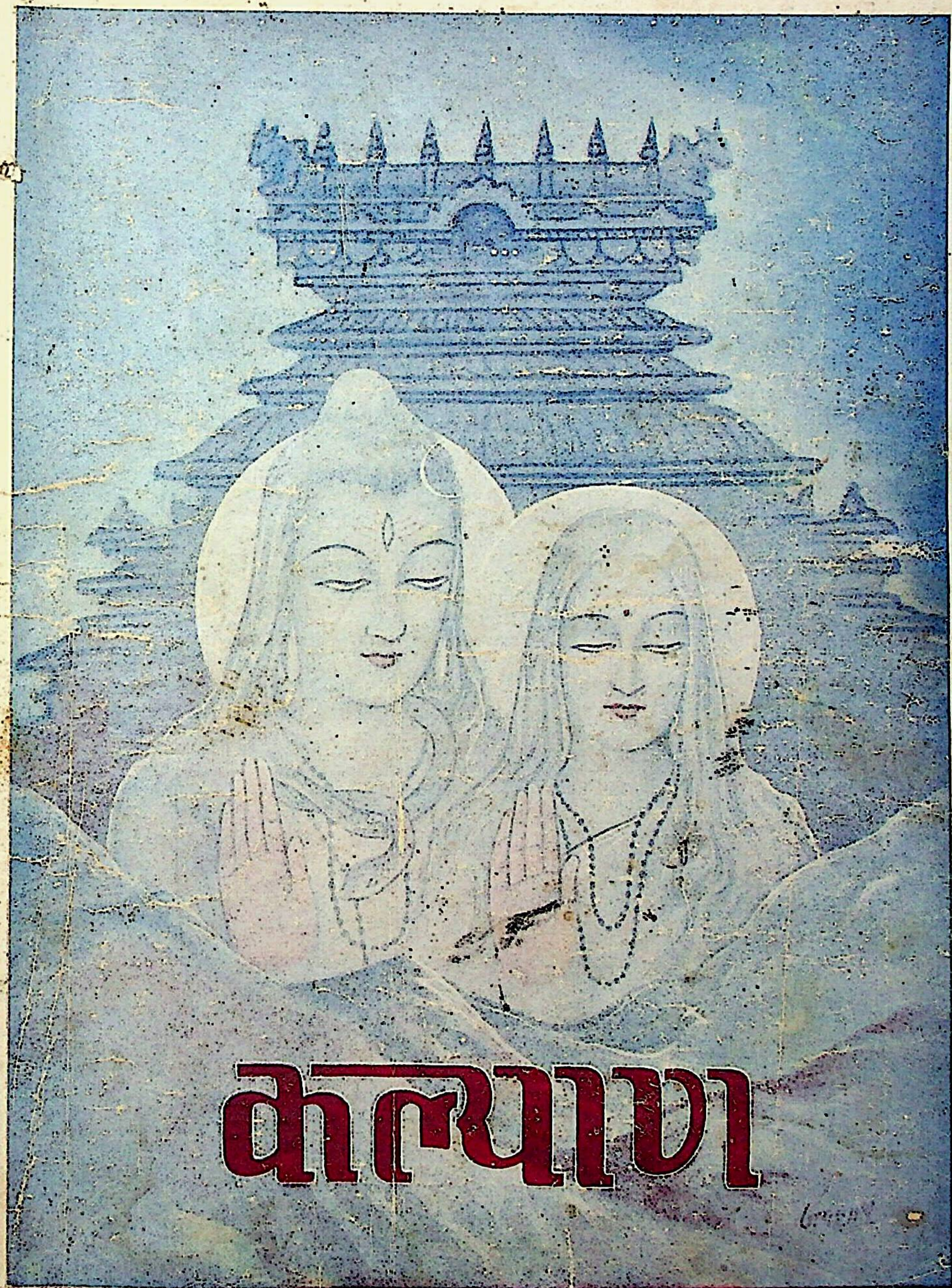


वर्ष २८] [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०११, अगस्त १९५४

चित्र-सूची

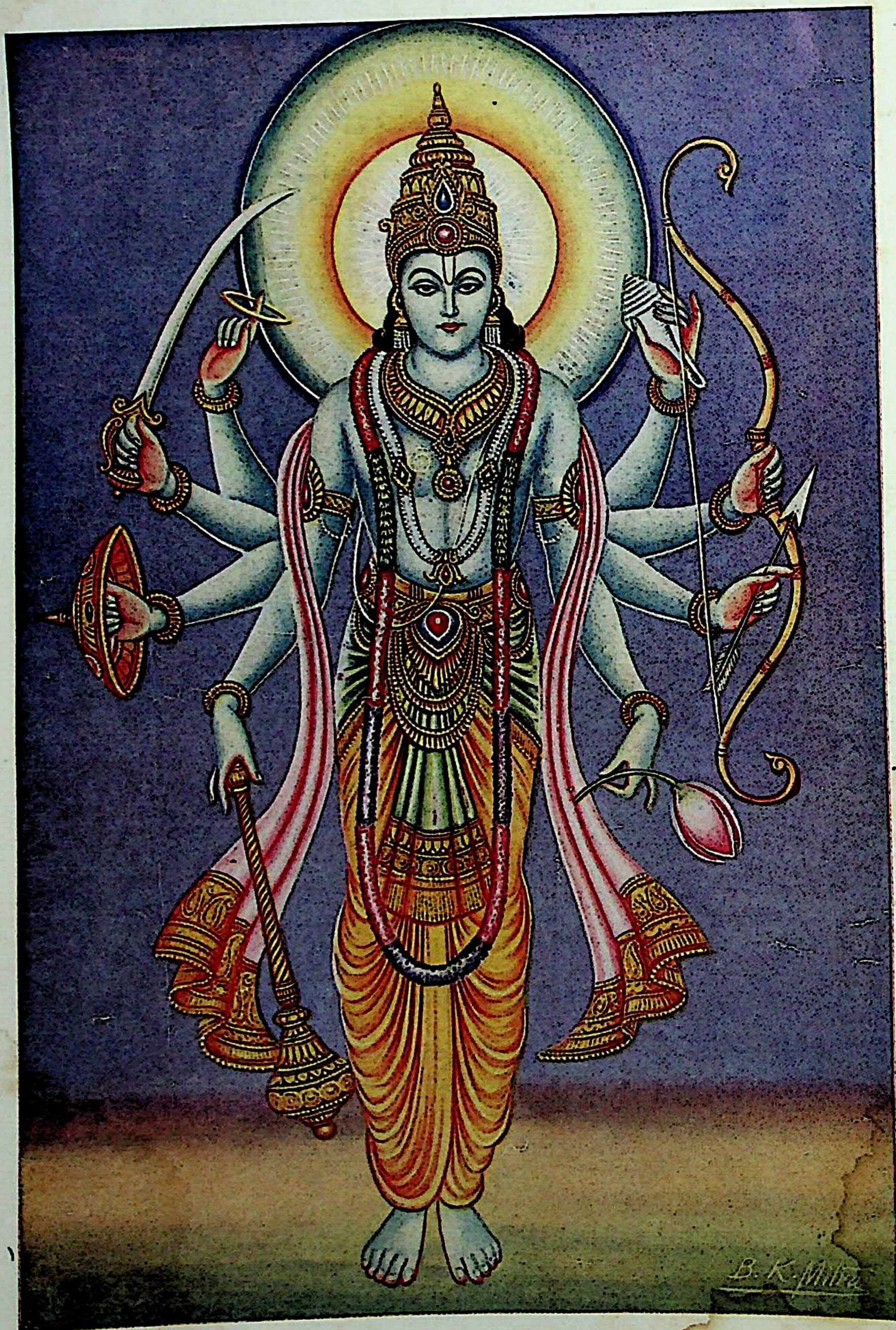
तिरंगा

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



श्रीमहाविष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०११, अगस्त १९५४ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ३३३

श्रीमहाविष्णु

नीरद श्यामवर्ण अति शोभित, कंठ कमल-मुक्ता-मणि हार ।
कौस्तुभ मणि, भृगुलता वक्ष श्रीवत्स दिव्य कर रहे विहार ॥
पद्म-गदा-असि-चर्म-चक्र-धनु-बाण-शंख, भुज अष्ट विशाल ।
कुण्डल कर्ण, कटक बाजूबँद, रत्न-मुकुट सिर, तिलक सुभाल ॥
कटि पीताम्बर रत्न मेखला, रुचिर रूप अति मंगलमय ।
भक्तकल्पतरु दीन-दयामय महाविष्णु जय-जय-जय-जय ॥

याद रक्खो—जगत्में जो कुछ है, सब केवल भगवान्‌का ही मूर्तरूप है, सभीमें भगवान् विराजमान हैं। केवल मनुष्योंमें ही नहीं—पशु-पक्षी-कीट-पतंग सभीमें, और इन चेतन प्राणियोंमें ही नहीं, समस्त जड-वर्गमें भी भगवान् हैं। श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर कविने बतलाया है कि 'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी, समुद्र—सभी श्रीहरिके शरीर हैं। ऐसा जानकर चराचरमात्रको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करे। अतएव सबमें भगवान् समझकर सबकी अपने कर्मके द्वारा सेवा करो, सबको यथासाध्य सुख पहुँचाओ और सबका हित-साधन करो।

याद रक्खो—जो दूसरे प्राणियोंका अहित करता है, वह मानो भगवान्‌का ही अहित करता है। इसलिये कभी किसीका भी अहित न तो करो, न चाहो। यह समझो कि तुम्हारे पास जो कुछ भी साधन-सामग्री है, सभी जगत्-रूप भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। अपनेको अनन्य सेवक मानो।

याद रक्खो—संसारमें सात प्रकारके मनुष्य हैं—सबसे श्रेष्ठ वे हैं, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। दूसरे वे हैं, जो अपनी हानि न करके दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। तीसरे वे हैं, जो अपने लाभके लिये ही प्रयत्नवान् रहते हैं, दूसरोंकी चिन्ता नहीं करते। चौथे वे हैं, जो अपने लाभमें दूसरोंकी हानि होती देखते हैं तो उसे सह लेते हैं, कोई परवा नहीं करते। पाँचवें वे हैं, जो दूसरोंकी हानि होती हो और उसमें अपना लाभ दीखता हो तो दूसरोंको हानि पहुँचा देते हैं। छठे वे हैं, जो जान-बूझकर सदा दूसरोंकी हानि ही करते हैं और उसीमें अपना लाभ मानते हैं और सातवें सबसे नीच मनुष्य वे हैं, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको हानि पहुँचाना चाहते हैं।

याद रक्खो—दूसरोंकी हानिमें जो अपना लाभ मानता है अथवा दूसरोंके लाभमें जो अपनी हानि मानता है, वे दोनों ही भूले हुए हैं। जिससे दूसरोंको लाभ होगा, उसमें तुम्हारी हानि होगी ही नहीं और जिससे दूसरोंकी हानि होगी, उसमें तुम्हारा लाभ होगा ही नहीं।

याद रक्खो—जो मनुष्य दूसरेकी हानिमें अपना लाभ मानता है, वह बड़ा ही अभागा है; क्योंकि उसका जीवन पाप-जीवन बन जाता है और जो दूसरेके लाभमें ही अपना लाभ मानता है और सदा दूसरोंके हितसाधनमें लगा रहता है, वह बड़ा सौभाग्यवान् है, उसपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।

याद रक्खो—जो सब जीवोंमें भगवान्‌को देखते हैं, उनके द्वारा तो ऐसा कोई काम कभी होगा ही नहीं, जिससे किसीको हानि पहुँचे या किसीका अहित हो। वे तो नित्य-निरन्तर अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा ही करते हैं।

याद रक्खो—जब प्राणिमात्रमें भगवद्भाव निश्चित हो जाता है, तब सर्वत्र भगवान्‌की झाँकी होने लगती है और समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाके दर्शन होने लगते हैं।

याद रक्खो—जब तुम्हारा सर्वत्र सबमें भगवद्भाव हो जायगा, तब तुम्हारे लिये कोई भी पराया नहीं रह जायगा। इस अवस्थामें क्षुद्र स्वार्थवश होनेवाले वैर-विरोध, कामना-वासना, राग-द्वेष आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जायगा, जीवन त्यागमय होगा और हृदयमें प्रेम, आनन्द और शान्तिकी निर्मल सरिता बहने लगेगी।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(२५)

साधकको निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि मनुष्यका शरीर विषयोंका उपभोग करनेके लिये कदापि नहीं मिला है। भोगोंका उपभोग तो पशु-पक्षी आदि हरेक योनिमें यह जीव अनन्तकालसे करता आया है, उसके लिये मनुष्य-शरीरकी कोई विशेषता नहीं है।

मनुष्य-शरीर मिला है अपनी भूलको मिटानेके लिये अर्थात् जीवने जो अपने प्रमादसे अनेक प्रकारके दोषोंका संग्रह कर लिया है, उनको साधनद्वारा नाश करनेके लिये। यदि कोई कहे कि भगवान्ने जीवमें भोगोंकी इच्छा उत्पन्न ही क्यों की? यदि भोगोंकी वासना न होती तो प्राणी उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा ही क्यों करता? तो इसका यह उत्तर है कि परम्परागत इस भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही तो भगवान्ने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है। यदि इसमें भोग-वासना ही न होती तो शरीर देनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई रोग होता है तभी उसको मिटानेके लिये चिकित्साकी जरूरत होती है। अतः भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही, भोग-वासनाके साथ-साथ भगवान्ने मनुष्यको योगकी, बोधकी और प्रेमकी लालसा भी प्रदान की है। भोगोंका क्षणिक सुख भी किसी-न-किसी प्रकारके संयोगसे अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे मिलता है। यह योगकी ही झलक है। इसी प्रकार रागमें प्रेमकी झलक है। प्रेमका ही दूसरा रूप राग या मोह है। और अविवेकमें विवेककी झलक है, क्योंकि विवेकका सर्वथा अभाव नहीं होता। उसकी कमीमें संदेह उत्पन्न होता है जो कि जिज्ञासाके रूपमें बोधका हेतु हो जाता है। जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा अपने बनाये हुए दोषोंको दूर कर लेता है, तब भोग-वासना योगमें, राग अनुरागमें और अविवेक बोधमें बदल जाता है। दोषोंकी उत्पत्ति और गुणोंका अभिमान—यही चित्तकी अशुद्धि है। इसीको मिटानेके लिये साधन है। अतः साधकमें बोधका, योगका और प्रेमका भी अभिमान नहीं रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि योग हो, परंतु मैं योगी हूँ, ऐसा अभिमान न हो। ज्ञान हो, परंतु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान न हो। और प्रेम हो, परंतु मैं प्रेमी हूँ, ऐसा अभिमान न हो।

भगवान्से जीवकी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। भगवान् और जीव जातिसे और स्वरूपसे भी एक हैं। दोनों ही नित्य हैं, अतः कालकी भी दूरी नहीं है। दोनों एक ही जगह रहते हैं, अतः देशकी भी दूरी नहीं है। दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है। इतनी निकटता और एकता होते हुए भी जो दूरीकी प्रतीति होती है, वह केवलमात्र अभिमानके कारण है।

जब कभी भक्तके मनमें किसी प्रकारके अभिमानकी छाया आ जाती है, तब उसका नाश करनेके लिये भगवान् उसके सामनेसे छिप जाया करते हैं। रासक्रीड़ा करते समय जब गोपियोंके मनमें यह बात आयी कि 'अब तो श्यामसुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं।' बस, यह मनमें आते ही उनके सामनेसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके मनमें अभिमान नहीं आया था, उनको अपने साथ ले गये। आगे चलकर जब उनके मनमें अभिमान आया, वे कहने लगीं कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता। मुझे कंधेपर उठा लीजिये।' तब उनको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये। तब वे श्यामसुन्दरके विरहसे व्याकुल होकर उनको खोजने लगीं। लता-पता, पशु-पक्षी आदि हरेक प्राणीसे पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दर-

को देखा होगा। वे किधर गये।' इतनेपर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले तो जहाँसे लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर, विरह-व्याकुलतासे उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हींकी लीलाका अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलताके दुःखसे उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये थे, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियोंने उनको जान नहीं पाया। प्रकट होनेपर जब गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि 'मेरी प्यारी सखियो! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेम-रसकी वृद्धिके लिये ही छिपा था' इत्यादि। अतः साधकको कभी किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

भगवान् जो जगत्‌की रचना करते हैं, उसमें भगवान्‌का जीवोंको नाना भाँतिसे रस-प्रदान करना और स्वयं उनके प्रेम-रसका आस्वादन करना—यही उद्देश्य है। विचारशील साधकका चित्त शुद्ध होनेपर उसको बोध प्राप्त होता है और उसके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है। कोई कहे कि बोधके बाद प्रेमकी प्राप्ति कैसी। उसका तो शरीर-मन आदिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। फिर प्रेम कौन किससे और कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कोई भी भौतिक नहीं रहते। उसके मन-बुद्धि आदि सभी दिव्य और चिन्मय होते हैं; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेमकी धातुसे बने हैं, उसीसे उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। इसलिये बोधके बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसीमें तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वरके सगुण-साकार रूपकी सार्थकता है। प्रेमके अतिरिक्त सगुण-ब्रह्मके होनेमें कोई कारण ही नहीं है।

प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रेमी और प्रेमीकी लालसा और प्रियतम सभी नित्य और असीम हैं, अतः उनके मिलनमें और वियोगमें सदैव आकर्षण रहता है तथा नित्य नया प्रेम बना रहता है।

भगवान् जीवके नित्य साथी हैं। कभी उससे अलग नहीं होते। तथापि प्राणी उनको जानता नहीं, भूल गया है। जैसे किसीकी जेबमें घड़ी पड़ी हो और वह उसे भूल जाय तो अपने पास होते हुए भी वह उससे दूरीका अनुभव करता है। जबतक उसे यह मालूम नहीं होता कि घड़ी मेरे पास मेरी जेबमें ही है, तबतक वह उसे खोजता रहता है और उसके बिना दुखी होता है, परंतु जब उसको बोध हो जाता है, तब वह घड़ी उसे मिल जाती है। उसी प्रकार यह जीव जबसे भगवान्‌को भूल गया है, तबसे अपनेको उनसे अलग मानकर दुखी हो रहा है।

यह भूल मिटकर जो अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धका स्मरण हो जाना है, यही वास्तविक स्मरण है। अतः नाम-जप आदि साधन करते समय भी साधकको यह नहीं भूलना चाहिये कि 'यह नाम मेरे प्रियतमका है।'

चित्तशुद्धिके लिये साधकको चाहिये कि चाहे विकल्परहित विश्वास करके यह माने कि 'मेरी और प्रभुकी जातीय एकता है। अतः वे ही मेरे हैं। अन्य कोई मेरा नहीं है।' और यह मानकर एकमात्र प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा प्रकट करे अथवा शरीर और संसारमें माना हुआ जो 'मैं, और मेरापन' है, उसे विचारके द्वारा दूर करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपने स्वरूपकी एकताका बोध प्राप्त करे।

जातीय एकता और स्वरूपकी एकताका विश्वास और बोध होनेपर ही प्रेम तथा बोधकी प्राप्ति सम्भव है। अन्य प्रकारसे नहीं।

(२६)

पहले यह बात कही गयी थी कि चित्त-शुद्धि-

के लिये ईश्वरके साथ जातीय एकता मानना अथवा स्वरूपकी एकताको जानना अनिवार्य है। आज उसीपर विचार करना है।

यह नियम है कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला देता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता है और अपनेसे भिन्न समझकर जिसके साथ अपनत्वका सम्बन्ध मान लेता है, उसमें आसक्ति हो जाती है; जिसको पराया समझ लेता है, उसमें द्वेष हो जाता है।

मनुष्यका 'मैं' मात्र जगत्में अनेक प्रकारसे बँटा हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं महत्तर हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसल्मान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं हिंदुस्तानी हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं अमेरिकन हूँ—इस प्रकार शरीर, जाति, देश, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति आदिके साथ 'मैं' को मिलाकर मनुष्य उनमें सद्बुद्धि कर लेता है। उन्हींको अपना जीवन मानने लगता है। इस कारण उसको यह बोध नहीं होता कि वास्तवमें मेरी और इनकी न तो स्वरूपसे एकता है और न जातीय एकता है तथा यह भी नहीं जानता कि इनकी स्वीकृति मैंने किसी प्रकारके साधनका निर्माण करके इनसे ऊपर उठने और अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये की है।

यद्यपि हरेक प्रकारकी मान्यताके साथ, उससे सम्बन्ध रखनेवाला विधान रहता है। जैसे कोई मानता है कि मैं हिंदू हूँ, तो हिंदू माननेवालेके लिये जो हिंदूधर्ममें उसके वर्ण, आश्रमके अनुसार कर्त्तव्यका विधान किया गया है, उसे भी मानना चाहिये। यदि उसे मान ले तो साधक वर्तमान परिस्थितिकी आसक्तिसे रहित होकर अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ जाय। इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि मनुष्यको जो परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उसको सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर करनेके लिये ही होती है; परंतु इस रहस्यको न समझनेके कारण प्राणी उसका सदुपयोग नहीं करता।

यही कारण है कि आज जो अपनेको हिंदू कहता है, वह हिंदूपनका अभिमान करके दूसरोंके साथ राग-द्वेष कर लेता है। अर्थात् मानने लगता है कि जो हिंदू हैं, वे तो अपने हैं। जो हिंदू नहीं हैं, वे पराये हैं। अतः अपनेको हिंदू माननेवालोंमें आसक्ति और दूसरोंमें द्वेष करने लगता है। यदि वह अपनेको हिंदू माननेके साथ-साथ उसके विधानको भी मानता तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार सबमें प्रेम करता! किसीसे भी राग-द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार सबमें समझ लेना चाहिये।

महापुरुषोंने जब जो सम्प्रदाय चलाया है, वह मनुष्यको उन्नत बनानेके लिये साधनरूप बनाया है। अतः हरेक सम्प्रदाय, हरेक प्रकारकी मान्यता, अपने-अपने अधिकार, अपनी-अपनी योग्यता और प्रीतिके अनुसार उसे साधन मानकर चलनेवालेके लिये हितकर है। इस दृष्टिसे सभी सम्प्रदाय और सभी मान्यता आदर करनेके योग्य हैं।

परंतु जब मनुष्य शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश और परिस्थितिके साथ एकता मानकर उनमें अभिमान कर लेता है एवं उसके अनुसार अपनेको नाना भावोंमें बाँधकर राग-द्वेष करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

इसलिये साधकको चाहिये कि विचार और विश्वास-के द्वारा यह निश्चय करे कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह मनुष्य-शरीर मुझे भगवान्की कृपासे साधनके लिये मिला है। यह निश्चय करके शरीरमें, या किसी प्रकारकी परिस्थितिमें सद्भाव न करे। उसे अपना जीवन न माने। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। प्राप्तका सदुपयोग करनेसे, अप्राप्तकी चाह न करनेसे, रागकी निवृत्ति हो जाती है। राग निवृत्त हो जानेपर द्वेष अपने आप मिट जाता है और राग-द्वेषका अभाव हो जानेसे निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकार-

की चाहका उदय नहीं होता । यही चित्तकी शुद्धि है । चित्त शुद्ध होनेपर योग, बोध और प्रेम अपने आप प्रकट हो जाते हैं ।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें मनुष्यको जहाँ कहीं सत्यता और प्रियताकी प्रतीति हो रही है, उसका मूल कारण उपर्युक्त माना हुआ अभेदभावका और भेदभावका सम्बन्ध है । दूसरा कुछ नहीं । यदि शरीर आदिसे अभेदके सम्बन्धका विच्छेद कर दिया जाय तो उसकी सत्यता और जडता चिन्मयतामें बदल जाती है । अर्थात् मैं शरीर हूँ, यह भाव मिट जाता है । इसके मिटते ही देहधर्ममें जो आसक्ति हो गयी है, वह मिट जाती है । उसके मिटते ही शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें सत्यताकी गन्ध-मात्र भी शेष नहीं रहती । उसके मिटते ही राग वैराग्यमें तथा भोग योगमें बदल जाते हैं । फिर जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है, उसका बोध और उससे प्रेम स्वतः हो जाता है । जो प्राणीकी वास्तविक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अत्यन्त अनिवार्य और स्वाभाविक है । उससे निराश होना एकमात्र प्रमादके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति करना ही प्राणीका पुरुषार्थ है ।

(२७)

प्रश्न—स्वामीजी ! प्रेम तो सब एक ही है न, वह चाहे पुत्रमें हो, चाहे अन्य किसीमें, प्रेम ही तो है ?

उत्तर—जो पुत्र और पति आदिमें प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, मोह है । उसीको राग और आसक्ति भी कहते हैं । प्रेममें और मोहमें बड़ा अन्तर है । जिसमें मोह होता है, जो मोहके कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थभाव रहता है । उसमें एक दूसरेसे किसी प्रकारका सुख लेनेकी चाह रखता है, किंतु प्रेममें स्वार्थके लिये कोई स्थान नहीं है । प्रेमी तो हर प्रकारसे अपने प्रेमास्पदको सुख देनेके लिये—अर्थात् उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक काम करता है । वह अपने प्रियतमके लिये सर्वस्व समर्पण कर देता है । प्रेमीका जीवन अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके लिये ही होता है । अपने प्रियतमका सुख ही प्रेमीका सुख है । प्रियतमकी प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता है । प्रेमास्पदका प्रेमरस ही उसका अस्तित्व है, अपने लिये उसे अन्य किसी प्रकारके सुखकी चाह नहीं रहती ।

आप किसी भी प्रेमी भक्तकी जीवनी पढ़िये । कहीं भी ऐसी घटना नहीं मिलेगी, जिसमें भक्तने अपने प्रभुसे अपने सुखके लिये कभी किसी प्रकारकी माँग की हो । माँग पेश करनेकी बात तो दूर रही, वह तो देनेपर भी कुछ स्वीकार नहीं करता । केवलमात्र उनका प्रेम-ही-प्रेम चाहता है । अतः भगवान् स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं । फिर भगवान्‌की सब चेष्टा भक्तको रस देनेके लिये और भक्तकी भगवान्‌को रस देनेके लिये हुआ करती है । वियोगकालमें भक्त भगवान्‌के विरहमें व्याकुल रहता है और भगवान् भक्तके विरहमें व्याकुल रहते हैं । इधर सीता रामके वियोगमें व्याकुल है तो उधर राम सीताके वियोगमें व्याकुल हैं । यही भक्त और भगवान्‌की दिव्य प्रेमलीला है ।

परवश प्राण

मेरो मन स्यामा स्याम हर्‌यौ ।
मृदु मुसकाय गाय मुरली मैं चेटक चतुर कर्‌यौ ॥
वा छवि तें मन नेंक न निकसत निसिदिन रहत अर्‌यौ ।
'अलीकिसोरी' रूप निहारत परवस प्रान पर्‌यौ ॥

भगवान्‌की प्राप्तिके कुछ सरल और निश्चित उपाय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्तामें (होनेपनमें) जो विश्वास है, उससे भी परमात्मा-की प्राप्ति हो सकती है; किंतु यह विश्वास पूर्णरूपसे होना चाहिये । मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है । किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतित-पावन और अन्तर्यामी हैं । हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं । इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते । इस विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उसके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ सत्-चेष्टा होगी, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही होगी । उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होंगे । भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है । भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं । कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है । कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह अधीर-सा हो जाता है । उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों ? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं, जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमीमें हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता ।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्यमात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है । अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्‌ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है । ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है । बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्‌के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्‌का न मिलना असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता । तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते । जो भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं । अतएव भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये । इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा

है। परम श्रद्धाके उदय होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा भी कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो साक्षात् परमात्माका दर्शन करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा कभी झूठ कहते नहीं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण है' तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि विना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये। मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि 'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो।' इसपर उस श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर उत्तर दिया कि 'इस समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा। तुम ठीक समझो, तभी भिजवा सकते हो।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी सहज समतासे उसमें सहमत हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं; तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धालुके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है, यह भी श्रद्धा नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन शास्त्रके अनुकूल न होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था—इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा—'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं आपकी अनुमति लेकर वन जाना चाहता हूँ।' भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता। जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो, हम सब भी वहीं चलें।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड बनकर जलको रोके हुए था। मुनिने कहा—'वत्स आरुणि! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रक्खा था। आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, अब आपकी क्या आज्ञा है? जलको रोके रक्खूँ या दूसरा कोई कार्य करूँ?' गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये। श्रद्धाके प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया।

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे। उनके पास जबालाका पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो। आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुम इनके पीछे-पीछे जाओ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चला गया और वहीं वर्षोंतक रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं तो एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला। वहीं रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्त कर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा तो उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा—'सत्यकाम! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है।' सत्यकाम बोला—'ठीक है। किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।' तब गुरुने भी उसे उपदेश दिया। यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और

अपने मनके अत्यन्त विपरीत आदेश सुनकर भी उसके अनुसार करनेमें अतिशय प्रसन्नता हो अर्थात् इधर गुरुकी आज्ञाकी विपरीतताकी भी कोई सीमा नहीं और उधर उसका पालन करनेमें प्रसन्नताकी भी कोई सीमा नहीं। तात्पर्य यह कि विपरीत-से-विपरीत आज्ञाके पालनके समय प्रसन्नता, शान्ति आदि उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ती जाती है कि हृदयमें हर्ष, प्रफुल्लता और शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात आदिकी सीमा नहीं रहती, बल्कि वे अनवरत बढ़ते ही जाते हैं। यह है परम श्रद्धा।

उपर्युक्त भावसे भावित हो प्रभुके मनके, संकेतके या आज्ञाके अनुसार करनेवालेका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाता है, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं।

इसी प्रकार शास्त्रकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी ऐसा भाव हो तो उसे शास्त्रमें परम श्रद्धा समझना चाहिये।

ईश्वरके मिलनेकी तीव्र इच्छा

एक भाई दुर्गुण और दुराचारसे युक्त है, किंतु ईश्वरके मिलनेकी महिमाको सुनकर उसके मनमें ईश्वरसे मिलनेकी तीव्र इच्छा जाग उठी; ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर ध्यान न देकर उसे अविलम्ब दर्शन दे सकते हैं। कोई दो-तीन सालका छोटा बालक मल-मूत्रसे भरा है और माताके लिये अत्यन्त व्याकुल है। स्नेहमयी माता अपने उस हृदयके टुकड़ेको जलसे शुद्ध करके हृदयसे लगाना चाहती है, किंतु बालक इतना आतुर है कि विलम्ब सहन नहीं कर सकता। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि मल-मूत्रसे लथपथ होनेके कारण मुझको माँ हृदयसे लगानेमें विलम्ब कर रही है, वह तो मातासे मिलनेके लिये अतिशय करुणाभावसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोता है। ऐसी परिस्थितिमें माता उसकी अतिशय व्याकुलताको देखकर स्नेहके कारण उसे हृदयसे लगा लेती है। पर भगवान्का स्नेह तो अनन्त माताओंसे बढ़कर है, फिर वे विलम्ब कैसे कर सकते हैं। स्नेहके कारण जब भक्तके हृदयमें प्रभुसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब भगवान् उसके दुर्गुण-दुराचाररूप दोषोंकी ओर देखकर भी विलम्ब नहीं करते।

माता तो बच्चेके मल-मूत्रकी सफाई करनेमें विलम्ब भी कर सकती है; किंतु भगवान्की दृष्टिमें तो उस साधकके दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं जाते, तब वे कैसे विलम्ब कर सकते हैं? पर साधकके हृदयमें मिलनकी इच्छा अत्यन्त तीव्र होनी चाहिये, फिर वह कैसा भी दुराचारी क्यों न हो। भगवान् तो केवल एक तीव्र प्रेम और मिलनकी तीव्र लालसाको ही देखते हैं, और कुछ नहीं।

अतएव हमलोगोंके हृदयमें भगवान्से मिलनेकी उत्कट इच्छा और परम प्रेम हो, इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्पर निर्भरता

बिल्लीका बच्चा जैसे अपनी माँपर निर्भर करता है, हमें उससे भी बढ़कर भगवान्पर निर्भर होना चाहिये। दो सालका छोटा बालक थोड़ी देरके लिये भी माँको छोड़ना नहीं चाहता, वह माँके ही भरोसे रहता है। माँ चाहे मारे, चाहे पाले। वह माँके सिवा दूसरेको नहीं जानता। वह तो एक माँपर ही पूर्णतया निर्भर है। इसी प्रकार कल्याणकामीको अपने कल्याणके लिये भगवान्पर निर्भर होना चाहिये। भगवान् तारें, चाहे मारें। उसमें कुछ भी विचार न करे, केवल भगवान्के ही भरोसे रहें। भगवान्के विधानके अनुसार सुख-दुःख आदि जो कुछ प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये और अपनेद्वारा होनेवाले कार्योंमें ऐसा समझना चाहिये कि हमारे सारे कर्म भगवान् जैसे करवाते हैं, वैसे ही होते हैं; किंतु इस विषयमें अकर्मण्यता (कर्म

करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म या शास्त्र-विपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; किंतु जहाँ भगवान्‌का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं। यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है।

गीतामें अर्जुनने पूछा कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

'भगवान्‌की निर्भरता'का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है। बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्‌की निर्भरता नहीं, वरं प्रमाद है। जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है। उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं।

अतएव परमात्माकी प्राप्तिके लिये परमात्माके शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये। भगवान् जो कुछ करें, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने।

संत कौन ?

इतने गुन जामैं सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्व भूतपर दाया।
हिंसा लोभ दंभ छल त्यागै, विषसम देखै माया॥
सहनसील आसय उदार अति धीरजसहित बिबेकी।
सत्य बचन सबकौं सुखदायक गति अनन्यव्रत एकी॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगतकौं पावन।
'भगवतरसिक' तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन॥

—श्रीभगवतरसिकजी

मानव-जीवनका गौरव

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

मानव-जीवनका यही प्रधान गौरव है कि संसारका कोई भी विषय उसे तृप्त नहीं कर सकता। देश-कालसे परिच्छिन्न वस्तुमात्र उसकी दृष्टिमें क्षुद्र है, उनसे उसकी असीम क्षुधा नहीं मिट सकती। उसका समुन्नत अधिकार उनके द्वारा सार्थक नहीं होता। उसमें होती है—ज्ञान-पिपासा, कर्मप्रवणता और भोगाकाङ्क्षा तथा होता है प्रेमावेग। ये सभी उसके मनुष्योचित स्वभावके अङ्ग हैं; किंतु यह आपात-विशाल संसार मानो उसकी इन स्वाभाविक माँगोंको पूरा करनेमें असमर्थ है। उसकी ज्ञानवृत्ति जागतिक विचित्र विषयोंका परिचय प्राप्त करके आत्मतृप्तिका मार्ग खोजती है; किंतु वह जितनी ही जानकारी प्राप्त करता है, उसकी ज्ञानपिपासा उतनी ही बढ़ती जाती है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि जो ज्ञातव्य है, उसकी तो उसे जानकारी हुई नहीं। बाहरी प्रकृति और मनोराज्यके असंख्य विषयोंका परिचय प्राप्त करके भी उसकी ज्ञानकी पिपासा निवृत्त नहीं होती, उसको ऐसी धारणा नहीं होती कि जो कुछ ज्ञातव्य था, वह सब उसने जान लिया, अब और किसी वस्तुका जानना या किसी वस्तुके जाननेका प्रयोजन ही नहीं रह गया। उसके अन्तरमें यही प्रश्न उठता रहता है कि ऐसी कोई वस्तु है, जिसके जाननेसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है, ज्ञानवृत्तिका अभाव-बोध मिट जाता है एवं बुद्धि परिपूर्ण ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाती है। सान्त, नश्वर और विकारशीलको जानकर तो उसकी ज्ञानकी क्षुधा मिटती नहीं। ऐसे खण्ड ज्ञानसे तो उसका अपनेसे भी अपना सम्यक् परिचय नहीं होता। वह चाहता है ऐसा कोई अनन्त अविनश्वर, अविकारी, सत्य, जिसके साथ उसकी ज्ञानवृत्तिका सम्यक् मिलन होनेसे—अर्थात् उसकी ज्ञानवृत्तिको तद्भावभावित स्थिति प्राप्त हो जानेपर—वह अपनेको ज्ञानसाधनामें सिद्ध होनेका अनुभव कर सके। इस अनन्त, अखण्ड, अविनाशी, अविकारी भूमाका आकर्षण ही मानव-प्राणको ज्ञानतपस्यामें नियोजित करता है। उस भूमाके साथ जबतक युक्त नहीं हो जाता, तबतक मानव-प्राणीमें एक असंतोष, क्षुधाबोध, दौड़-धूप बनी ही रहती है। यही उसका गौरव है, यही उसके उन्नत अधिकारका निदर्शन है।

ऐसा मानव, यद्यपि एक क्षुद्र, दुर्बल, परिवर्तनशील देहको और सीमित इन्द्रियशक्तिको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है तथापि उसके अंदर कर्मशक्तिकी एक ऐसी अनुप्रेरणा रहती है, जो कभी यह स्वीकार नहीं करती कि संसारका कोई भी कार्य उसके लिये असाध्य है। वरं वह तो उसकी कर्मशक्तिका उत्कर्ष करके समस्त प्रकृति-राज्यके ऊपर अपना अव्याहत प्रभुत्व स्थापन करनेका प्रयास करती रहती है। भूमि, जल, वायु, अग्नि सब मेरे आज्ञाकारी भृत्य बन जायँ, देवता मेरा श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लें, अपने प्रयोजनानुसार प्राकृतिक पदार्थ और शक्तियोंको नियोजित करके इस प्राकृतिक जगत्‌में एक नवीन जगत्‌की सृष्टि करनेके लिये सब प्रकारके बाधा-विघ्नोंको पददलित करके मैं अपने अन्तरके आदर्शको इस जगत्‌में एक रूप देकर खड़ा कर दूँ, यही कर्मप्रवण मानव-जीवनकी माँग है। इस कर्मप्रवणताद्वारा प्रेरित होकर अपनी शक्तियोंका विकास करते हुए वह अपनेको बाह्य दृष्टिसे चाहे जितना भी बड़ा कर ले, परंतु उसकी कर्म-क्षुधा कभी निवृत्त नहीं होती।

संसारके उपकरणोंका व्यवहार करके, जागतिक अवस्था-पुंजोंपर निर्भर रहकर, नाना प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार करके मनुष्य अपनी कर्मशक्तिका चाहे जितना ही विकास कर ले एवं नयी-नयी सृष्टिके द्वारा जगत्‌को चाहे जितना ही समृद्ध बना ले तथापि इससे वह 'स्वराट्' नहीं हो सकता, 'सर्वेषु लोकेषु कामचारः' नहीं हो पाता, 'भूत-प्रकृतिजयी विश्वराट्' नहीं हो सकता, उसकी सृष्टिवासना, अभावबोध और अक्षमताकी अनुभूति तिरोहित नहीं होती और वह अपनी कर्मसाधनाकी परिपूर्ण सिद्धि अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होता। दूसरी ओर प्रत्येक कर्मवीर मनुष्य ही संसारके उपकरणोंको प्राप्त करनेमें, संसारमें अपना-अपना प्रभुत्व स्थापन करनेमें, अपने कर्मद्वारा दूसरोंपर प्रभाव डालनेमें प्रयत्नशील होते हैं, जिसके कारण मानव-समाजमें घोर प्रतिद्वन्द्विता और वैरभावकी उत्पत्ति होती है, एककी कर्मशक्ति ही दूसरेकी कर्मशक्तिका व्याघात और संकोच करनेवाली बन जाती है, प्रत्येककी कर्म-साधना ही दूसरेकी कर्म-साधनाकी सिद्धिके मार्गमें विघ्न हो जाती है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यकी कर्मशक्तिका विकास किस प्रकार किस मार्गसे किया जाय, जिससे एक

मनुष्यका दूसरेके साथ संघर्ष न हो, एककी कर्मसाधना दूसरेकी कर्मसाधनाके प्रतिकूल न होकर उसकी सहायक हो। प्रत्येक मनुष्य ही दूसरेको खर्व न करके अपने ही भीतर स्वराज्य और विश्वराज्यका अनुभव कर सके, सभी 'भूतप्रकृतिजयी' और 'सर्वेषु लोकेषु कामचारः' हो सकें। मनुष्यके सामने इतना बड़ा विशाल कर्मक्षेत्र विद्यमान रहनेपर भी जो उसकी कर्मशक्ति यहाँपर सम्यक्‌रूपसे कृतार्थ नहीं हो पाती, यह भी मानवीय अधिकारके गौरवका ही निदर्शन है।

जीवमात्रकी भोगाकाङ्क्षा भी स्वभावसिद्ध है; किंतु दूसरे प्राणियोंकी भाँति देहेन्द्रियकी प्रयोजन-पूर्ति और सुख-साधनद्वारा ही मनुष्यकी भोगाकाङ्क्षाकी तृप्ति नहीं होती। उसका भोग जितना ही बढ़ता है, भोगवासना भी उतनी ही बढ़ती है। उसके मनोराज्यमें नयी-नयी भोगवासनाएँ उदय होती हैं, नये-नये अभाव और वेदनाओंकी उसे अनुभूति होती है, नयी-नयी आकाङ्क्षाओंकी सृष्टि होती है। संसारकी सम्पूर्ण भोग्यसामग्री भी यदि एक मनुष्यकी सेवामें नियोजित हो जाय तो भी उसकी भोगपिपासा तृप्त नहीं हो सकती। यद्यपि उसके शरीर और इन्द्रियोंकी भोगशक्ति सीमित है तथापि उसके अन्तःकरणकी भोगाकाङ्क्षाकी कोई सीमा नहीं है। शास्त्र उसको मरणोपरान्त अनन्त स्वर्गकी आशा देते हैं। वहाँपर भोगकी शक्ति, भोग्यसामग्री, भोगकाल सभी अपरिमित होंगे; किंतु स्वर्गसुखकी चाहे जितने विशाल रूपमें कल्पना की जाय, मानव-प्राण जिस आनन्दका अधिकारी है, उसकी उस माँगको स्वर्ग भी पूरा नहीं कर सकता। मानव-प्राण तब बुद्धिके सम्मुख यह समस्या उपस्थित करता है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसके प्राप्त कर लेनेपर दूसरी किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं रह जाती, ऐसा कौन-सा भोग है जिसका आस्वादन कर लेनेपर समग्र जीवन आनन्दास्वादनमय होकर सदाके लिये अभावोंके बहुत ऊपर विराजमान हो सकता है।

साधारण मनुष्यकी स्फुट चेतनाके क्षेत्रमें मानव-प्राणोंके अंदर छिपा हुआ यह सुमहान् अधिकार समुज्ज्वल रूपमें दिखायी नहीं देता, उसकी चरम समस्याएँ मूर्तिमान् होकर नहीं दीख पड़तीं। अधिकांश लोग तो साधारण प्राणियोंका-सा जीवन ही व्यतीत करते हैं और लगातार दुःखोंके कोड़े खाते हुए अकृतार्थताकी वेदना लिये अतृप्त आशा-आकाङ्क्षाओंकी यन्त्रणाओंसे जर्जरित हुए, हृदयके अंदर शोक-तापकी भीषण ज्वाला धारण किये अनीप्सित और भीतिप्रद मृत्युकी ही दिशामें अवश होकर चलते जाते हैं। देहेन्द्रिय-मनके दैनन्दिन प्रयोजनोंके कष्टसे, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय परिस्थितियोंके कोलाहलसे, क्षुद्र-क्षुद्र विषयलोलुप बहिर्मुख प्रवृत्तियोंकी मादकतासे व्याकुल हुई मानव-बुद्धि अपने जीवनके गभीरतम प्रदेशकी आशा-आकाङ्क्षाओंके सम्बन्धमें जागरूक नहीं हो पाती। वह वास्तवमें क्या चाहता है, वही तो उसकी परिस्फुट चेतनामें प्रकाशित नहीं हो पाता। जिस प्रकार उसके ज्ञान-कर्म और भोग सम्यक्‌रूपेण कृतार्थ हो सकें, ऐसी समस्या ही उसके चित्तमें यथोचितरूपसे उदित नहीं हो पाती। इसका अर्थ यह है कि उसका मनुष्यत्व पशुत्वके आवरणको विदीर्णकर अपनेको समुज्ज्वल रूपसे प्रकाशित नहीं करता एवं अपने अधिकारको हृदय-मन-बुद्धिके सम्मुख उपस्थित नहीं करता। विचित्र ज्ञान, कर्म और भोगके द्वारा अभिज्ञता संचय करते-करते जब मनुष्य अतृप्तिकी वेदनाको तीव्ररूपसे अनुभव करता है एवं उसके हृदय-मन-बुद्धि पर्याप्त मात्रामें सम्मार्जित हो जाते हैं, तभी इस अतृप्तिके मूलकारणके अनुसंधानमें उसकी प्रवृत्ति होती है, तभी चरम ज्ञेय, चरम कार्य, चरम भोग्यके सम्बन्धमें उसके चित्तमें प्रश्न उदित होता है, परम सत्यको जाननेके लिये, परिपूर्ण आनन्दका सम्भोग करनेके लिये, निरंकुश स्वराज्य और विश्वराज्यमें प्रतिष्ठित होनेके लिये, ऐकान्तिक आग्रह उसके मन-बुद्धि-हृदयको नियन्त्रित करते रहते हैं।

जिन मनुष्योंके चित्तमें ये सब चरम समस्याएँ परिस्फुट रूपमें समुदित हो जाती हैं, प्राणोंके अन्तर्निहित असीमकी क्षुधाको तीव्ररूपमें अनुभव करके जो लोग उसकी परितृप्तिके लिये प्रयत्नपरायण होते हैं, ज्ञान-कर्म और भोगकी सम्यक् कृतार्थता प्राप्त करनेके लिये समस्त शक्तियोंके प्रयोगको ही जो लोग जीवनके महाव्रतके रूपमें ग्रहण कर पाते हैं, वे ही वस्तुतः मानव-जीवनके गौरवोज्ज्वल अधिकारके सम्बन्धमें जागरूक हैं, उन्हींके अंदर मनुष्यत्व सुविकसित है, वे ही विचारशील मनुष्यमात्र-के चिरन्तन आदर्श हैं। जो इस साधनामें सिद्ध हैं, जिन्हें मानव-जीवनका यह चरम आकाङ्क्षणीय स्वरूप अधिगत हो गया है, जो चरम सत्यका ज्ञान, चरम आनन्दका सम्भोग और चरम कल्याणकी सुदृढ स्थिति प्राप्त करके मानव-जीवनको कृतार्थ कर चुके हैं, वे ही लोकगुरु हैं, वे ही

ऋषि हैं, उनकी शरणागति ही साधारण मनुष्यके लिये कृतार्थता प्राप्त करनेका उपाय है।

ऐसे सम्यक् ज्ञानी, सम्यक् कर्मी, सम्यक् भोगी महापुरुष सभी देश और सभी कालोंमें लोकसमाजमें यह घोषणा करते आये हैं कि सब प्रकारका भेदज्ञान ही अज्ञान है, भेदाश्रयी कर्म ही अकृतार्थ हैं एवं भेदावलम्बी सर्वविध भोग ही तृप्तिविहीन हैं। भेदके ऊपर विना उठे, प्राणोंको बिना अभेदभूमिपर प्रतिष्ठित किये, मनुष्य किसी वस्तुसे संतोष प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, किसीसे अपनेको कृतार्थ नहीं समझ सकता। आपात प्रतीयमान असंख्य प्रकारके भेदोंमें वर्तमान रहकर भी मनुष्यको अभेद-दर्शन करना होगा, अभेद-दृष्टि लेकर कर्म सम्पादन करना होगा, अभेदभावका सम्भोग करना होगा। यही है मानव-प्राणोंकी चिरन्तन आकाङ्क्षा। इसी अधिकारको लेकर भेदबहुल जगत्में मानव-जीवनका आविर्भाव हुआ है। अनन्तवैषम्य-समाकुल जगत्में परम साम्यमें स्थिति प्राप्त करनेका अधिकार ही यथार्थ मानवीय अधिकार है।

ज्ञानसाधनाके क्षेत्रमें मानव-जीवन जानमें और अनजानमें सभी प्रकारके ज्ञेय विषयोंके मूलमें एक अभेदभूमिका आविष्कार करनेके लिये ही व्याकुल है। विभिन्न प्रकारके कार्योंमें वह एक कारणका अनुसंधान करता है, विभिन्न प्रकारके प्रत्यक्षगोचर सत्योंमें वह एक व्यापकतम महासत्यका अन्वेषण करता है, परिदृश्यमान विचित्र क्रियाओंके नियामकरूपमें वह एक महाशक्तिका साक्षात्कार पाता है। यह जो 'बहु' में एककी खोज है, यह मानव-जीवनका स्वाभाविक धर्म है। एकसे बहुतकी उत्पत्ति, एकको आश्रय करके अनेककी संघबद्ध स्थिति, विनाशकालमें एकके अंदर बहुका विलय हो जाना,—यह मानव-जीवनके लिये प्राथमिक सत्य है। इसी कारण जहाँ ही विभिन्न पदार्थोंमें किसी प्रकारका सादृश्य या सहयोगिता, विभिन्न क्रियाओंमें किसी प्रकारका योगसूत्र या सामञ्जस्य, विभिन्न घटनाओंमें किसी प्रकारकी एकतानता या नियतपारम्पर्य दिखायी पड़ता है, वहीं मानवीय बुद्धि उनके मूलगत एक ऐक्य या अभेदभूमिका आविष्कार करनेमें व्यस्त हो जाती है। क्रमशः इस अनन्त वैचित्र्यमय जगत्के साथ जितना ही परिचय होता है, उतना ही उसके सभी पदार्थोंके अंदर एक प्रकृतिगत और क्रियागत ऐक्यसूत्रकी विद्यमानता उपलब्ध होती है, सम्पूर्ण जगत्में एक अङ्गाङ्गियोगकी अनुभूति होती है। तब समग्र जगत्का मूलीभूत, सकल वैचित्र्यकी अभेदभूमि, असंख्य क्रियाओंका मूल उद्गमस्थान, एक महाशक्तिमय स्वप्रकाश सद्वस्तुके साक्षात्कारकी आकाङ्क्षा तीव्र हो जाती है। सर्वकारणकारण सर्वशक्त्याधार समस्त रूपोंमें प्रतीयमान इस अद्वितीय सद्वस्तुका साक्षात्कार होनेके साथ ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है—सम्पूर्ण कार्य-कारण-शृङ्खला, सब प्रकारकी क्रिया-परम्परा, सकल जातीय नाम-रूपोंके आभ्यन्तरीण तत्त्वके साथ मानव-जीवनका परिचय संस्थापित हो जाता है। केवल इतना ही नहीं; ज्ञाता और ज्ञेयका भी इस अत्यन्ताभेदभूमिके साथ परिचय होनेसे विश्वके ही साथ जीवनकी ऐक्यानुभूति होने लगती है, विश्वके स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंको वह अपनेसे अभिन्न जानकर आलिङ्गन करता है, सभी क्रियाओंके अंदर वह अपनी ही अभिव्यक्ति देखने लगता है; मानव-प्राण तब विश्वव्यापक हो जाता है। इस प्रकार देखना ही सम्यक् दर्शन है और यहीं मानव-प्राणकी ज्ञानसाधना सार्थक होती है।

किंतु मानव-प्राण तो केवल ज्ञानसाधक ही नहीं है, वह तो कर्मसाधक और भोगास्वादक भी है। कर्म और भोगके अंदर उसका ज्ञान मूर्ति धारण करता है। ज्ञानके उत्कर्षके साथ-साथ उसके कर्म और भोगका उत्कर्ष न होनेसे उसे सम्यक् तृप्ति नहीं प्राप्त हो सकती। जिस समय उसका ज्ञान अभेदभूमिपर प्रतिष्ठित हो जाता है, उस समय उसके कर्म और भोग भी उस अभेदभूमिसे ही उत्पन्न होते हैं। विचित्रक्रियासमन्वित विश्वजगत्में जब वह एकके ही लीलाविलासका दर्शन करता है एवं अपने-आपको भी उसी एकके साथ अभिन्न रूपसे अनुभव करता है, तब उसके लिये और कुछ आकाङ्क्षणीय नहीं रह जाता, उसके कर्म और आनन्दसम्भोगमें भी किसी क्षेत्रसे बाधा नहीं प्राप्त होती। विश्वके समस्त कर्मोंमें वह जिस प्रकार एकके ही लीलावैचित्र्यका दर्शन करता है, उसी प्रकार अपने निजी कर्मोंका भी उसी एकके ही लीलाभिव्यक्तिके रूपमें आस्वादन करता है। उसके देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिद्वारा जो भी कर्म होते हैं, सभी उस विश्वमूलीभूत एकके ही कर्म होते हैं; उसके अन्तरमें जो कोई संकल्प उदित होता है, वह उस एकका ही संकल्प होता है; उसके कर्मोंसे जो भी फल प्रसूत होता है, वही एक ही उन सब कर्मोंका सम्भोक्ता होता है। उसके समस्त कर्मोंका कर्ता और सभी कर्मफलोंका भोक्ता होता है वही सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वशक्त्याधार सर्वान्तर्यामी अद्वितीय परम पुरुष। अपनी

निज महिमामें विराजमान उस परम तत्त्वके साथ उसकी ऐक्यानुभूति हो जानेसे, मानव-जीवनकी स्वाराज्यसिद्धि भूतप्रकृतिजयित्व और विश्वराजत्वकी प्रतिष्ठा स्वभावतः ही हो जाती है। उस परम तत्त्वका स्वरूप ही उसका स्वरूप हो जाता है, उस परम तत्त्वकी विभूति ही उसकी विभूति हो जाती है और उस परम तत्त्वका विश्वराज्य ही उसका साम्राज्य हो जाता है। फिर 'सर्वेषु लोकेषु कामचारः' होनेमें उसे कोई बाधा-विघ्न नहीं रह जाता, किंतु अपने सुखसम्भोग या प्रभाव-प्रतिपत्तिके लिये कोई कामना ही उसके एकतत्त्वानुगत चित्तमें नहीं उत्पन्न होती।

इस प्रकार अद्वैतज्ञान स्वायत्त करके मनुष्य जब उसी अद्वय सर्वान्तर्यामीकी प्रेरणासे कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होता है, तब उसका निजी वैयक्तिक कोई प्राप्तव्य या भोक्तव्य उसकी कर्मधाराका नियामक नहीं होता, विश्वका सहज कल्याण ही उसके सभी प्रकारके कर्मोंका नियामक होता है। साधारणतः उसके देहेन्द्रिय-मन जिस प्रकारकी सामाजिक राष्ट्रिय नैतिक और आध्यात्मिक परिस्थितिमें स्थित होते हैं, उसीके अनुसार उसका स्वकर्म निर्धारित होता है, तदनुकूल आकारमें ही उसके कर्मोंकी बाहरी आकृति निरूपित होती है। बाह्य-दृष्टिसे ये सब कर्म एक क्षुद्र सीमाके भीतर आवद्ध भी रह सकते हैं, किंवा बृहत्तर क्षेत्रमें विस्तृत भी हो सकते हैं। किंतु उसके सभी कर्मोंका उद्गम होता है एक निर्मल विश्वप्रेम। उसका प्राण विश्वप्राणके साथ नित्ययुक्त रहता है, उसके देहेन्द्रिय-मन रहते हैं विश्वप्राणकी सेवामें नियुक्त। विश्वप्राण ही उसके देहेन्द्रिय-मनके कर्मोंमें लीलाविलास करता रहता है। तभी तो वह कर्म करके भी अकर्मा रहता है, कर्ममें रहते हुए भी कर्मके ऊर्ध्व विराजता है।

अभेददृष्टि लेकर कर्मसाधनामें व्रती होनेसे एककी कर्म-सिद्धिके साथ दूसरेकी कर्मसिद्धिका कोई विरोध नहीं होता, एककी प्रभुत्व-प्रतिष्ठा दूसरेके दासत्वका कारण नहीं बनती, एककी कर्मशक्ति दूसरेकी कर्मशक्तिको व्याहत करनेके लिये उद्यत नहीं होती। जब सब-के-सब कर्मोंका ही मूलकर्ता एक होता है, सबके सभी कर्म जब एककी ही सेवामें निवेदित होते हैं, जब एक विश्वप्राण ही सभी कर्मोंका फलभोक्ता होता है, तब फिर विरोधका अवसर ही कहाँ रह जाता है? तब चित्तमें हिंसा, द्वेष, घृणा, भयादिके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। चित्तकी सारी वृत्तियाँ जब एक प्रेमवृत्तिमें ही परिणत हो जाती हैं, प्रेम ही प्राणकी स्वरूपगत एकमात्र वृत्तिके रूपमें अनुभूत होता है, सकल कर्म प्रेमकी ही अभिव्यक्ति बनकर एक निराविल धाराके रूपमें प्रवाहित होते हैं, तब वही विश्वान्तर्यामी एक परम तत्त्व भी प्रेमानन्द स्वरूपसे ही उपलब्ध होता है, समस्त विश्व ही उसके प्रेमानन्दकी लीलारूपमें प्रतीयमान होता है और विश्वके प्रत्येक व्यापारमें उसके प्रेमविलासका ही परिचय प्राप्त होता है। तब मानव-हृदय प्रेममय हो जाता है एवं समस्त जगत् ही उसकी अनुभूतिमें प्रेमद्वारा गठित होनेसे सौन्दर्य-माधुर्य-मण्डित और अनन्त आनन्दका भण्डार हो जाता है।

अभेददृष्टिजनित प्रेमसे हृदय जब भरपूर हो जाता है, तभी मानव-प्राणकी भोगाकाङ्क्षाकी सम्यक् परितृप्ति होती है। तब अन्तरमें प्रेमानन्दस्वरूपकी अविच्छिन्न अनुभूति, एवं बाहर भी उसी अद्वय प्रेमानन्दस्वरूपके ही विचित्र विलासका सम्भोग होता है। तब भीतर-बाहर केवल आनन्द-ही-आनन्द रहता है। विश्वब्रह्माण्डमें कहीं भी कोई आनन्द-विरोधी सत्ता ही नहीं रहती। अतएव अभाव-अभियोग, शोक-ताप, भय-चिन्ता तब मानव-हृदयका स्पर्श नहीं कर सकती। आनन्दविलासके राज्यमें निरानन्दके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस अमृतास्वादनमें मृत्युकी कोई भावना ही नहीं उदित होती।

अतएव एक अद्वय नित्य सत्य प्रेमानन्दघन परम तत्त्वके साथ अविच्छेद्य मिलन ही मानव-जीवनके लिये चिर-आकाङ्क्षित है, इस महामिलनकी आकाङ्क्षा ही संसारमें उसके चिर असंतोषका कारण है, उसके स्वभावमें चिरकालसे इसी आकाङ्क्षाके निहित रहनेसे उसके इन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदय 'नेति-नेति' 'और चाहिये, और चाहिये' कहते हुए दौड़ते चले जाते हैं एवं सांसारिक परिच्छिन्न बहु-ज्ञान, बहु-कर्म और बहु-भोगमें कहीं शान्ति नहीं पाते हैं। एक अपरिच्छिन्न अद्वय तत्त्वके साथ मिलित होकर नित्य अभेदभूमिमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकनेपर ही मानव-प्राणकी सम्यक् तृप्ति होती है—तभी उसके ज्ञानकी, कर्मकी और भोगकी सार्थकता हो जाती है।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७१)

हँस-हँसकर खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कालियके चारों ओर घूमने लगते हैं— इस प्रकार, मानो खगेन्द्र गरुड़ अपने भक्ष्य किसी क्षुद्र सर्पसे कौतुक करने लगे हों तथा कालिय भी अवसरकी प्रतीक्षामें, पुनः अपने विषदन्तोंके द्वारा भीषण प्रहार करनेके उद्देश्यसे, नील-सुन्दरके समान ही चक्कर काट रहा है—

क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २५)

ताहि कृष्ण घेरयो चहुँ ओरा ।
मनहुँ खगेस घेर अहि घोरा ॥
जेहि दिसि प्रभु तेहि दिसि है सोऊ ।
एहि बिधि भ्रमत फिरें तहँ दोऊ ॥

× × ×

ऐसैं काली सौं बनमाली । खेलन लगे सकल गुनसाली ॥
बाम भाग दिए तिहि उर मेलत । जैसैं गरुड़ सर्प सौं खेलत ॥

किंतु कालियके बलकी तो एक सीमा है । अनन्त अपरिसीम बलशालीसे होड़ करने जाकर वह कब तक टिक सकता था । देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी, घूम-घूमकर वह अत्यन्त श्रान्त हो गया । उसमें अब इतनी सामर्थ्य भी न रही कि अतिशय मन्द गतिसे भी नीलसुन्दरका अनुसरण कर सके । आखिर भ्रान्त-सा हुआ वह एक ओर खड़ा हो गया। दीर्घ निःश्वास आने लगे । आसन्नमृत्यु-जैसी उसकी दशा हो गयी । हाँ, उसके फण अभी भी ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओटसे अभिमान स्पष्ट रूपसे झाँक रहा था । पर अब तो योजना दूसरी ही है । मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक न हो सका, न सही; करुणा-वरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र उसे अपना चरणस्पर्श दान करनेके लिये चञ्चल हो उठे हैं, वे स्वयं उसे अतिशय विनम्र बनाकर ही छोड़ेंगे और यह लो, वे दौड़ चले; द्रुतगतिसे उसके समीप आ गये । उनका वह वाम हस्त-कमल ऊपर उठा; सबसे ऊपर उठे हुए कुछ फणोंपर एक अत्यन्त हल्की थपकी-सी उन्होंने लगा दी । फिर तो न जाने उस किसलय-कोमल करमें कितना भार कालियको प्रतीत हुआ और वे उन्नत फण उस भारसे नमित हो ही गये । इतना ही नहीं, उनका वह पीत दुकूल विद्युत्-रेखा-सा झलमल कर उठा और पलक गिरते-न-गिरते नीलसुन्दर उन्हीं झुके हुए सुविस्तृत फणोंपर अनायास उछलकर चढ़ गये—ठीक ऐसे, मानो उन्हें अपने शेषशायी स्वरूपकी स्मृति हो आयी हो और चिर अभ्यस्त होनेके कारण अपनी शय्यापर ही वे सुख-पूर्वक आरोहण कर रहे हों !—

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २६)

बुझि गयौ ओज उरगकौं ऐसैं ।
नाग दवनके देखत जैसैं ॥

× × ×

फिरि झपटि चढ़े फन पकरि हाथ ।
दै भार भरत गति अमित नाथ ॥

× × ×

सोहैं नंद-सुवन तहँ ऐसैं । सेस उपर नाराइन जैसैं ॥

कालिय अपने इस अचिन्त्य सौभाग्यको अनुभव न कर सका, योगीन्द्रमुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्णचरण-सरोरुहका स्पर्श प्राप्तकर वह परम कृतार्थ हो चुका है, यह अनु-भूति उसे नहीं हुई—यह सत्य है । पर अन्तरिक्ष तो 'जय-जय' नादसे तत्क्षण ही नादित हो उठा । ऐसे अत्यन्त अधम सर्पको भी अपनी कृपाका अयाचित दान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष देखकर देववृन्दके

आनन्दका पार नहीं रहा है। उन सबके अपलक नेत्र केन्द्रित हो गये हैं—नीलसुन्दरके पदकमलोंपर ही। इस समय उन मृदुल चरणोंकी शोभा भी देखते ही बनती है। कालिय-मस्तकमें स्थित मणिसमूहोंके सम्पर्कमें आकर वे चरणाम्बुज अतिशय अरुणिम प्रतीत हो रहे हैं और अब देखो, नृत्यके तालबन्धका एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। ओह! स्पष्ट ही तो है—समस्त कलाओंके आदिगुरु ये व्रजेन्द्रनन्दन कालिय-फणोंपर नृत्य करने जो जा रहे हैं। एक प्राकृत नट भी अपनी कलाका प्रदर्शन करने जाकर, विविध आश्चर्यमय उपकरणोंके सहारे नाचकर अपने कौशलका परिचय देता है, मृत्तिकापात्रोंपर, आकाशमें टँगे रज्जु-खण्डपर, सूक्ष्म तारोंपर विविध तालबन्धोंकी रचना कर दर्शकको मुग्ध कर देता है। फिर अखिलकलाप्रवर्त्तक सकल कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र कालिय-फणकी रङ्गशालामें ही अपनी कलाका दर्शन करायें; निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर ही देखते हुए अपने स्वजन व्रजपुरवासियोंके प्राणोंको शीतल करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है। अतिशय चञ्चल कालियफणपर अखण्ड सुमधुर तालबन्धकी रचना एक असाधारण अभूतपूर्व कौशल जो होगी। इसीलिये लीलाविहारी इसीकी अवतारणा करने जा रहे हैं; नहीं-नहीं कर चुके, उनका वह नृत्य आरम्भ हो गया—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त।

(श्रीमद्भा० १० । १६ । २६)

पुनि ताके फनपर चढ़ि गये।
सकल कला गुरु निर्तत भये॥
फनन तें निकसि निकसि मनि परै।
पगन मैं झलमल झलमल करै॥
तैसिय हरि-नख-मनिकी जोति।
सब दिसि जगमग जगमग होति॥

अस्तु, नीलसुन्दरके बिम्बविडम्बि अधरोंपर नित्य व्यक्त स्मितकी वह रेखा सहसा और भी स्फुट हो गयी। सलोने चञ्चल दृग एक बार अन्तरिक्षकी ओर मुड़े और फिर दूसरे ही क्षण श्रीअङ्गोंसे एक विचित्र मनोहर नृत्यकी गतियोंका क्रमशः प्रकाश होने लगा। जिनकी चरणसेविका मायानटीके नियन्त्रणमें अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नाच रहे हैं, ब्रह्माण्डके प्रत्येक क्षुद्रतम धूलि-कणसे आरम्भकर अतिशय महान् सुमेरुपर्यन्त जडवर्ग एवं कीटाणुसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त चेतन-समुदाय अनवरत नृत्य कर रहा है, वे मायाधिपति व्रजेन्द्रनन्दन आज स्वयं कालिय-फणपर नृत्य करने चले हैं! और इस समय इन नटवर-नागरको इतनी त्वरा है कि वीणा-झंकृतिकी, मृदङ्ग आदिके तालकी सहायता प्राप्त हुए बिना ही मञ्चपर उतर आये और नृत्य आरम्भ कर दिया है उन्होंने! वाद्ययन्त्र नहीं है, न सही। उनके मधुमय कण्ठसे निःसृत 'थै थै' का अप्रतिम अभिनव झङ्कार ही पर्याप्त है। बस, दिग्दिगन्त गूँजने लगा है उनके श्रीमुखसे प्रसरित 'थैया तथ तथ थैया थै थै थैया तथ् ....' के मधुर स्वरसे और वे स्वयं अपने मुखसे दिये हुए तालपर ही आनन्दित हुए नृत्य कर रहे हैं। अवश्य ही अन्तरिक्षमें अवस्थित उनके 'तदीय' जन—गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण, सुरसुन्दरियोंकी आँखें खुलते देर न लगी। सबके प्राणोंमें नादित हो उठा नीलसुन्दरके मधुस्यन्दी कण्ठका 'थै थै' नाद और साथ ही जाग उठी अग्रिम कर्त्तव्यकी स्फूर्ति—

वाद्यं विनैव स्वमुखेनैवोच्चारितैस्थैथैशब्दैः प्रभुर्नृत्यति तद्वयं कं समयं प्रतिस्थिता इति।

(सारार्थदर्शिनी)

'ओह! बिना वाद्यके ही, अपने मुखसे उच्चारित 'थै थै' शब्दके तालपर ही प्रभु नृत्य कर रहे हैं; फिर हमलोग किस समयकी बाट देख रहे हैं।'

अब तो कहना ही क्या है। प्रेममग्न उन गन्धर्वोंने नीलसुन्दरकी ताल एवं लयमें अपनी ताल-लय मिलाकर उनकी गुणावलीकी मधुर तान छेड़ दी। स्नेहपूरित हुए

स्वर्ग-चारणगण मृदङ्ग, पणव, आनक आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ताल श्रीकृष्णचन्द्रके चरणविन्याससे एककर ताल देने लगे। मधुर गीत गाते हुए देवगण एवं देववधुओंने नन्दनकाननसे मन्दार, पारिजात आदि पुष्पोंका चयन किया; क्षणभरमें सबने ही राशि-राशि कुसुमोंसे अपने दुकूल, अञ्चल, अञ्जलि भर लिये और श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें कुसुमोंकी अविरल धारा बरसने लगी। सचमुच ही सुरगण एवं सुरसुन्दरियोंके द्वारा प्रक्षिप्त, स्नेहसिक्त प्रसूनसे कलिन्दकन्याका प्रवाह, ह्रदका कूल सम्पूर्णतया आस्तृत होने लगा। व्रजेन्द्रनन्दनका माहात्म्य कीर्तन करते हुए सिद्धगणोंने हरिचन्दन, कुङ्कुम आदि दिव्य सौरभमय विविध चूर्णोंके उपहार बिखेर दिये; समस्त दिशाएँ आमोदित हो उठीं और उधर ऋषिगणोंका स्तवपाठ भी आरम्भ हो गया। सभी अपना सर्वस्व समर्पित कर श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवामें तत्क्षण उपस्थित हो गये—

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २७)

थैया तथतथ थैया थै थै थैया तथेति गन्धर्वाः।
तालं पाठं वादनमारेभिर उच्चकैर्मुदिताः॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

प्रभु कहँ नचत देखि सुर चारन।
आए बनि बनि सेवा कारन॥
देवबधू गावहिं पिकबैनी।
अप्सर संग मिली मृगनैनी॥
पनव मृदंग आदि बहु बाजे।
भिन्न भिन्न नाना बिधि राजे॥
करि अस्तुति सुरसिद्ध गन सुमन बरषि हरखाइ।
नचत सु कालीके फननि कृष्न देख सुख पाइ॥
× × ×
सिर झुलति चंद्रिका सरित माल।
कुंडलनि गंड मंडल रसाल॥
जुरि गंध्रप आए समय जान।
सुरबधू अपछरा करहिं गान॥
सुर भरहिं तार दै दै उचार।
बीनादि जंत्र बाजैं अपार॥

श्रीकृष्णचन्द्र और भी उत्साहमें भरकर नृत्य करने लगते हैं। गन्धर्वोंका स्तवन जिस क्रमसे चल रहा है, उनकी गद्यपद्यमयी स्तुति जिस प्रवाहमें व्यक्त हो रही है, उसीके अनुरूप ही ताल-संकेतकी व्यञ्जना भी हो रही है तथा अखिल कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र भी उसी ताल एवं वृत्तमें बँधे हुए ही नृत्य कर रहे हैं। कहीं भी स्खलन नहीं, स्वरका व्यतिक्रम नहीं। साथ ही कालियके एक फणसे दूसरे फणपर वे चले गये हैं, यह तो दीख पड़ता है और वे गये हैं ठीक तालके विरामके समय ही; परंतु स्थान परिवर्तन करते समय सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि किसीने भी उन्हें सचमुच देखा हो, यह कहते बनता नहीं। बलिहारी है नीलसुन्दरकी इस कलाकी !—

उद्घाटयन्ति शब्दं तालं
पाठं च ते यथा विरुदम्।
अयमपि तथैव नृत्यति फणिनः
फणतः फणान्तरं गच्छन्॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और कुछ ही क्षणोंके अनन्तर गन्धर्व-चारणोंकी कला कुण्ठित होने लगी। नृत्य एक शास्त्र है, उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यासका कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक दूसरेसे अधिक प्रदर्शित कर सकता है। दर्शकके हृत्तारोंको झङ्कृत कर देनेकी सामर्थ्य सभी नर्त्तकोंमें समान हो ही नहीं सकती, किंतु प्रत्येक नर्तक ही नृत्य-परम्पराकी सीमामें ही रहता है, कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्यविशेषमें जो उसकी स्वतन्त्रता रहती है, एक नवीनताका भान जो वह अपने दर्शकोंको करा देता है, वह भी नृत्य-कलाकी एक नियमगत वस्तु ही है; किंतु यहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दन देखते-

देखते ही सर्वथा स्वकल्पित गतिसे ही नृत्य करने लगते हैं। परम स्वतन्त्र व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा नृत्यकी यह गति-रचना है तो अत्यधिक मनोहर, अत्यन्त मोहक, पर चारण-गन्धर्वोंने कहाँ शिक्षा पायी है, ऐसी अद्भुत कला-की ? कब देखा है उन सबने ऐसा प्राणोन्मादी उद्दाम नृत्य ? इसीलिये अब सम्भव ही नहीं रहा कि वे श्रीकृष्ण-चन्द्रके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उनके गीतमें योग दान कर सकें; वाद्ययन्त्रोंको उनके तालमें बाँधे रखकर चल सकें; यहाँतक कि वे ताल-पाठका संकेत भी उच्चारण कर सकें, यह क्षमता भी उनमें न रही—

निजकल्पितया गत्या नृत्यति कृष्णो यथा स्वैरी।
न तदनुरूपं गातुं पठितुमप्यमी शेकुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

कौन बतावे उन चारण-गन्धर्वोंको—'अरे ! कालियके अन्तस्तलके स्पन्दनपर ही तो व्रजेन्द्रनन्दनकी गति निर्भर करती है।' उसकी स्तब्धताको आत्यन्तिक रूपसे हर लेनेके लिये ही तो नीलसुन्दरने उसके फणोंपर अपनी रङ्गशालाका निर्माण किया है। पर कालियकी बहिर्मुखता भी अपनी जातिकी एक ही है। वह न जाने रोष-प्रतिशोधकी किन-किन लहरोंमें बह रहा है। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु व्रजेन्द्रनन्दनको अपने मस्तकपर अवस्थित अनुभव करके वह आनन्दसिन्धुमें सदाके लिये निमग्न न हो सका; अपितु वह तो यह सोच रहा है कि कहीं, तनिक-सा भी अवसर मिल जाय और वह इस 'शिशु' को तपनतनयाके प्रवाहमें फेंक दे। इसीलिये रह-रह कर उसके फण उठते हैं; जिस फणमें तनिक भी शक्तिका अनुभव उसे होता है, उसे ही वह ऊपर उठाता है तथा उस साँवरे शिशुको दबोच लेनेका स्वप्न देखता है। सहस्र फण उसके हैं। उनमें एक शत मुख्य हैं तथा उन सौमें ही निरन्तर अत्यन्त उग्र विषका कुण्ड धक्-धक् जलता रहता है और इन्हीं-मेंसे किसी फणको उठाकर उसका समस्त विष व्रजेन्द्र-नन्दनपर उँडेलकर वह उन्हें भस्म कर देना चाहता है; किंतु होता यह है कि जो भी फण नमित नहीं दीखते, ठीक उन्हींपर श्रीकृष्णचन्द्रका पाद-प्रहार होने लगता है। नृत्यके आवेशमें, एक नयी गतिका सृजन करके, अपनी अतिशय मनोरम भङ्गिमाको अक्षुण्ण रखते हुए ही, वे उसी फणको बारम्बार तालका विराम-स्थल बना लेते हैं; वही मस्तक उनकी रङ्गस्थलीमें परिणत हो जाता है और फिर उनके चरण-प्रहारसे टूटकर वह नीचेकी ओर झुक पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो श्रीकृष्णचन्द्र ताण्डवका रस ले रहे हैं, पर साथ ही आनुषङ्गिकरूपसे खल-संयमनकी लीला भी सम्पन्न होती जा रही है। हाँ, कालियके लिये तो अब उसके जीवन-दीप बुझते-से दीख रहे हैं। कितनी देरतक वह सह सकता था उनकी ताड़नाको। बार-बारके पदाघातसे उसका एक-एक फण टूट-टूटकर नीचेकी ओर लटकने लगा है। मुखसे, नासा-विवरसे अनर्गल रक्तकी धारा बहने लगी है। अत्यधिक व्यथाके भारसे वह मूर्च्छित होने लगा है—

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । २८)

प्रभु तजत उरग के नमित सीस।
जे उन्नत तिनपर नचत ईस॥
निर्तत नंद किसोर जोर पगतल हनि फन फन।
गावत अंबर चढ़े अमर किन्नर गंध्रप गन॥
फिरि भरतालनि भनक फनिक फिरि फेनहिं डारतु।
बमतु रुधिर मुख-धार भारनिहि अंग सम्हारतु॥

× × ×

जोइ जोइ फन अहि उन्नत करै।
तहँ तहँ पाँव कान्ह कौ परै॥
पगन की कूटनि दुखित जु भयौ।
सर्प कौ दर्प सबै गिरि गयौ॥

आकाशसे अभी भी प्रसूनोंकी वृष्टि हो ही रही है। देवद्रोही इस कालियके गर्वको प्रभुने हर लिया—यह दर्शन देव-समाजके कण-कणको आनन्दित कर दे रहा है। उन्हें तृप्ति नहीं हो रही है नीलसुन्दरके चरण-सरोरुहमें कुसुमोंका अभिनन्दन समर्पित करनेसे। और क्या पता—शेषशायी पुराणपुरुषके पादारविन्दमें पाद्य, अर्घ्य, सुमन समर्पित करनेका अवसर तो उन्हें कितनी बार मिल चुका है, पर वहाँ इन नृत्यपरायण नीलसुन्दर-की वङ्किम झाँकी कहाँ ? और इसी उल्लासमें ही उनके पुष्पवर्षण—पुराण-पुरुषके पूजनका विराम नहीं हो रहा हो !—

……………पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २९)

तेहि तेहि समै देव गंधर्वा । किंनर चारन मुनिगन सर्वा ॥
जसुदानंदन कहँ सब आई । पूजहि सुमन सुरभि सुख पाई ॥
सेषासन जनु पुरुष पुराना । पूजेउ एहि बिधि करि सनमाना ॥

जो हो, अब कालियका गर्व शमित हो चुका था। उसकी शारीरिक शक्ति तो पूर्णतया क्षीण हो ही चुकी थी; निराश मन भी चिर-निद्रामें प्रविष्ट होने चला। किंतु ठीक यही अपेक्षित क्षण जो है, अवसर है श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रिकाके आलोकसे अन्तस्तल उद्-भासित हो उठनेका। और यही हुआ। कालियके मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राणोंमें एक ज्योति-सी जाग उठी और उसने उसी प्रकाशमें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके स्वरूपको पहचान लिया। 'पर हाय ! शरीरमें तो अब शक्ति नहीं कि वह स्पन्दित भी हो सके, श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-सरोजोंमें न्योछावर हो सके ! अब क्या हो ! बहुत विलम्ब हो गया……………!' फिर भी अन्तिम श्वासकी-सी अवस्थामें कालिय मन-ही-मन पुकार उठा—

सरन-सरन अब मरत हौं, मैं नहिं जान्यौ तोहिं ॥

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३०)

साथ ही उस ओर नाग-वनिताओंपर योगमायाके द्वारा प्रसारित वह आवरण भी सहसा हट गया। युग-युगसे जिन व्रजेन्द्रनन्दनको वे अपना मन-प्राण समर्पित कर चुकी थीं, प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये जिनकी प्रतीक्षा कर रही थीं, वे ही जब उनके आवासमें स्वयं पधारे, तब उन सबने—दर्शनसे कृतार्थ होकर भी—उन्हें नहीं पहचाना। हाँ, इस समय अकस्मात् अपने-आप—न जाने कैसे हृत्तल आलोकित हो उठा और उन सबने देख लिया, जान लिया—'हमारे चिरजीवनके आराध्य प्राणाधार ही तो वहाँ विराजित हो रहे हैं।' किंतु पतिदेव—आह ! वे तो महाप्रयाणकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। नागवधुएँ तत्क्षण उपस्थित हो जाती हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-प्रान्तमें ही—

गति सबल अबल स्वाँसनि बल, हहरि सुहिय लहरातु घट।
लखि बिकल ब्याल काली सिथिल, तब आईं अबला निकट ॥

कमलमुख

कमलमुख देखत कौन अघाय ।
सुनि री सखी लोचन-अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय ॥
मुक्तामाल लाल उर ऊपर जनु फूली बन घाय ।
गोवर्धनधर अंग-अंगपर कृष्णदास बलि जाय ॥

—कृष्णदासजी

अपनी आवश्यकताएँ घटाइये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

आज सर्वत्र पैसेकी तंगीकी ध्वनि आ रही है। प्रायः सभी अपनी आयमें अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं। भौतिक आनन्दोंको पानेके लिये रिश्वत, घूस और कालाबाजार चल रहे हैं। आय बढ़ती नहीं तो उनकी व्यग्रता और भी बढ़ती है।

विवेक हमसे कहता है कि इस समस्याको दूसरी तरहसे क्यों नहीं सुलझाते। 'तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर।' आयकी चिन्ता छोड़कर आवश्यकताओंको घटाना प्रारम्भ कर दीजिये, जिससे इसी आयमें काम चल जाय और कुछ शेष भी बच जाय।

हमें परेशान करनेवाली हमारी कृत्रिम आवश्यकताएँ और बनावटी जीवन है। जैसे हम हैं, उससे बढ़ा-चढ़ाकर दिखानेके हम आदी बन गये हैं। हमने पढ़-लिखकर अपने विलास तथा आरामकी नाना वस्तुओंको जन्म दे डाला है। हमारी जीभ तथा वासना अनियन्त्रित हो गयी है। हम दूसरोंका अन्धानुकरण करनेकी मूर्खता कर रहे हैं। फलतः रोगी और दुखी हैं।

आवश्यकताएँ हमारे गुण, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार घटती-बढ़ती रहती हैं। रबरकी तरह, चाहे जितनी बढ़ा लीजिये, चञ्चल मनका नियन्त्रणकर चाहे जितनी सिकोड़ लीजिये। जितनी अधिक आवश्यकताएँ, उनकी पूर्तिके लिये उतना ही श्रम, भाग-दौड़ और संघर्ष। अपूर्ण रहनेपर उसी अनुपातमें मानसिक कष्ट और वेदना।

मोटे रूपसे आपकी आवश्यकताएँ तीन प्रकारकी हैं—(१) जीवन-यापनके लिये जरूरी, (२) सुख-विषयक, (३) विलासविषयक। प्रथम वर्गकी आवश्यकताएँ पूर्णकर अधिक-से-अधिक संतोष हो सकता है। वर्ग २ और वर्ग ३ की अन्तिम सीमाका कोई ठिकाना नहीं।

प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियोंने आवश्यकताओंमें भेद नैतिक आधारपर किया था। उन्होंने मानवके लिये उन्हीं आवश्यकताओंकी योजना रक्खी थी, जो सरल, सादा जीवन और उच्चविचारोंकी पोषक थी। सुख और विलासको उन्होंने मानवकी शक्तियाँ कुण्ठित करनेवाला माना था।

भौतिक सभ्यताके युगमें मनुष्यने सुख और विलास-की आवश्यकताओंको बढ़ाया; और उनके अपूर्ण रहनेपर विक्षोभ,मानसिक कष्ट तथा अभावोंकी भट्ठीमें जलता रहा।

जीवनविषयक आवश्यकताएँ क्या हैं? हम आवश्यक, सुखविषयक एवं विलासकी आवश्यकताओंमें विवेक किस प्रकार करें? आइये, इस प्रश्नपर विचार करें।

जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ वे हैं, जिनके विना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। पौष्टिक भोजन, वायुमय मकान, साधारण वस्त्र, रोगोपचारकी सुविधाएँ तथा शिक्षा—ये ऐसी मौलिक आवश्यकताएँ हैं, जो जीवनधारणके अतिरिक्त मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक तथा शैल्पिक शक्तियोंका विकास करती हैं। प्रत्येक व्यक्तिको इनकी पूर्तिका प्रथम प्रयत्न करना चाहिये।

इनके पश्चात् उन आवश्यकताओंको पूर्ण कीजिये जो आपके सामाजिक यश-प्रतिष्ठाके लिये जरूरी हैं और जिनके लिये आपको कभी-कभी अपनी जीवन-विषयक आवश्यकताओंसे विमुख होना पड़ता है।

यहाँतक आप अपने आपसे उदारताका व्यवहार कर सकते हैं; किंतु आगेका मार्ग बड़ी जागरूकता एवं सावधानीका है। आनन्द एवं विलासके क्षेत्र अनन्त हैं। आजके मानवकी चिन्ताका कारण ये ही वर्ग हैं।

विलास एवं आनन्दका वर्ग बड़ा लंबा है। इसमें बढ़िया-बढ़िया वस्त्र, आलीशान मकान, गहने, मनोरञ्जन-

के कीमती साधन, मिष्टान्न और ऊँची प्रकारके भोजन, मोटर, सिनेमा, क्लबका जीवन, मादक पदार्थोंका सेवन, दान-दहेजकी अधिकता, बहुमूल्य वाहन, कलात्मक वस्तुओंका खरीदना सम्मिलित है।

अपने पेशे, स्तर तथा वातावरणको देखिये और फिर उपर्युक्त आवश्यकताओंको कम करते जाइये। अपने सामाजिक जीवन, आर्थिक शक्ति, परिवारके सदस्योंकी संख्या, स्थान एवं समयको देखिये।

जिस वस्तुको रखनेकी आपमें क्षमता नहीं है और जो आपकी किसी स्थायी माँगकी पूर्ति न कर केवल मिथ्या प्रदर्शनमात्रके लिये है, उसे त्याग दीजिये। जिन भोजनोंसे आपकी कार्यक्षमता नहीं बढ़ती, केवल व्यसनके रूपमें वे साथ बँधे हुए हैं, उनसे तुरंत दूर रहने लगिये। पान, सिगरेट, शराब, भाँग, चरस, बीड़ी और इसी प्रकारके दूसरे व्यसन आपकी अज्ञानताके सूचक हैं। इनके पंजेमें बँधे रहना महामूर्खता है।

मानवको शान्ति तब प्राप्त होती है, जब वह कम-से-कम आवश्यकताओंका बोझ सिरपर रखता है। जिसे तनिक-तनिक-सी वस्तुका मोह होता है, वह उनकी अपूर्तिपर निरन्तर विक्षुब्ध रहता है।

कम आवश्यकतावाला व्यक्ति अपनी शक्ति क्षुद्र कार्योंसे बचाकर उच्चतर कार्योंमें व्यय कर अपनी आत्मिक उन्नति कर सकता है। देहमें वासना है, वासनासे असंख्य इच्छाएँ और इच्छाओंसे कष्ट उत्पन्न होता है। जैसे हाथीके बाहर निकले हुए दाँत फिर अंदर नहीं जाते, वैसे ही एक बार बढ़ी हुई आवश्यकताएँ कम नहीं हो पातीं। प्रत्येक आवश्यकता एक ऐसा महसूल है, जो चुकाना ही पड़ता है।

आजके जीवनमें जो समस्याएँ अत्यन्त पेंचीदा हो रही हैं, जिनसे अन्तःकरणमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वे बढ़ी हुई झूठी कृत्रिम आवश्यकताओंसे ही उत्पन्न हुई हैं। हम स्वयं ही इनके जनक हैं।

देखिये, आपकी प्रवृत्ति किस ओर चल रही है—क्या आप निरन्तर एकके पश्चात् दूसरी अन्धाधुन्ध आवश्यकताएँ बढ़ाते चले जा रहे हैं? अनाप-शनाप व्यय कर दूसरोंसे ऋण ले-लेकर क्यों व्यर्थ ही अपनेको बन्धनोंमें डाल रहे हैं? कहीं आपको मिथ्या प्रदर्शन, झूठी शान, जगत्को अपना अतिरञ्जित स्वरूप दिखानेकी तो आदत नहीं पड़ गयी है? विलास, भोग, व्यभिचार, अभक्ष्य वस्तुओंका भोजन, पान करनेकी कुत्सित आदतमें पड़कर आपका चित्त चञ्चल तो नहीं रहता है? यदि आप इन शत्रुओंसे मुक्त रहना चाहते हैं, तो अपनी आवश्यकताओंको एक-एक करके कम करते जाइये, आप सुखी रहेंगे।

हमारा सुख हमारी आवश्यकताओंके अनुपातमें रहता है। अधिक आवश्यकताओंवाला व्यक्ति बड़ी कठिनतासे सुख-समृद्धि प्राप्त करता है। कारण, उसकी अन्तिम आवश्यकताकी पूर्ति होते-होते, सुख भोगनेकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो जाती है। प्रत्येक आवश्यकता एक मानसिक बन्धन है। जो इन बन्धनोंमें अधिक-से-अधिक बँधा है, उसके सुखमें उतनी ही बाधाएँ हैं।

अधिक आवश्यकतावाला व्यक्ति जिस मानसिक रोगसे पीड़ित रहता है, वह है मनका वशमें न रहना, अति चञ्चलता, अति स्वच्छन्दता और इन्द्रियोंको वशमें न कर सकना। यदि ऐसे व्यक्ति कुछ चित्तवृत्ति-निरोध करें, तो बढ़ी हुई आवश्यकताओंसे मुक्ति पा सकते हैं। मनुष्य मनकी वृत्तियोंको ढीला छोड़कर चञ्चल, उन्मत्त और प्रचण्ड बना लेता है। कालान्तरमें आदत बन जानेपर इनसे मुक्ति असम्भव हो जाती है। व्यसन, फैशन, व्यभिचार आदि कुत्सित आदतोंका प्रारम्भ बड़ा साधारण होता है, धीरे-धीरे व्यसन बढ़ते हैं। अन्तमें मनुष्य इन्द्रियोंका दास हो जाता है।

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनमें दृढ़तासे यह प्रण कर

अथवा दाल-सागमें जरूरतसे ज्यादा नमक-मिर्च छोड़ दी है अथवा रोटी जला दी है तो देखिये मेरे क्रोधका पारा !

उस दिन थाली न टूटे, सेवापरायणा पत्नीका गंदी गालियोंसे समादर न हो तो उसका भाग्य सराहना चाहिये !

× × ×

गरमीके दिन हैं। दफ्तरकी छुट्टी है। दोपहरमें खाना खाकर मजेकी झपकी ले रहा हूँ। इसी समय घरका कोई बच्चा किसी चीजके लिये ठुनकने लगता है अथवा खेलते-खेलते कोई चीज गिरा देता है। मेरी नींद टूट जाती है। अब देखिये मेरा ताव ! बच्चेके कान मैंने गरम न किये, उसकी पीठ लाल न की तो कहिये !

× × ×

जरूरी कामसे पैदल जाना है। रास्तेमें चप्पल बोल गयी। मेरे गुस्सेका पार नहीं है। पासमें कहीं मोची न मिले, अथवा मरम्मतके लिये जेबमें पैसे न हों और श्रीमती चप्पल-को हाथमें लटकाकर ले चलना पड़े तो मेरा क्रोध देखते ही बनता है !

× × ×

रिक्शा पंचर हो गया या 'क्यू'में दूर खड़े होनेसे टिकट मिलनेमें देर हो गयी और प्लेटफार्मपर पहुँचते-पहुँचते सीटी देकर ट्रेन चल पड़ी। मैं सचमुच रेल देखता रह गया। अब देखिये मेरा क्रोध !

× × ×

दिनभरका थका बिस्तरपर पड़ा हूँ। आँखें नींदसे भारी हैं। ऐसे समय नीचेसे खटमल, ऊपरसे मच्छर काटना शुरू कर देते हैं। अब देखिये मेरा ताव !

परंतु कितना ही भारी मत्कुण-यज्ञ करूँ, कैसी भी अच्छी मसहरी लगाऊँ, जान बचनेवाली है ? परंतु चौकीको धूपमें डालकर उसपर गरम पानी छिड़ककर भी भला मेरा क्रोध शान्त होनेवाला है ?

× × ×

बच्चे रोते हैं, बीमार पड़ते हैं, रातमें सोना हराम कर देते हैं। शरीर थकावटसे चूर है परंतु तापमान लेनेके लिये जागना है, दवा वक्तपर देनेके लिये जागना है, डाक्टरका दरवाजा खटखटाना है। अब देखिये, मेरा पल-पलपर बढ़ने-वाला क्रोध !

× × ×

मुझे दुर्बल पाकर कोई गाली दे देता है, पीट देता है। मेरा कसूर हो तब भी मुझे गुस्सा आता है, फिर बिना कसूर यदि कोई मार बैठे तो फिर मेरा क्रोधित होना स्वाभाविक ही है।

× × ×

मतलब, जब मेरे आराममें बाधा पड़ती है, सुखोपभोग-में कोई अड़चन आ जाती है तो मेरा क्रोध भड़क उठता है। फिर वह गरमीमें ऊमस होनेसे हो, बाहर जाते समय तालीका गुच्छा खो जानेसे हो, जरूरतके वक्त जरूरी चीजके न मिलनेसे हो, समयपर बर्तन मलनेके लिये दाईके न आनेसे हो, खाना बननेके पहले ही पत्थरके कोयलेकी आँच चली जानेसे हो, किसी चीजके खो जानेसे हो, बच्चोंके जिद करनेसे हो, समयपर गाढ़ी मेहनतकी कमाई न मिलनेसे हो, परीक्षामें असफल हो जानेसे हो, बरसातमें पैर फिसलकर गिर जानेसे हो, बीमार पड़ जानेसे हो, समयपर उधार गयी चीज या रकम वापस न मिलनेसे हो अथवा और ही किसी कारणसे हो। मेरे स्वार्थमें मेरे आराममें बाधा आयी नहीं कि मेरा क्रोध उबला !

× × ×

लेकिन, यहींतक बस नहीं।

मेरे क्रोधके और भी कितने ही कारण हैं।

मुझमें कूट-कूटकर अनेक दुर्गुण भरे पड़े हैं। मगर मैं यह नहीं चाहता कि मेरी कमजोरियोंका कोई पर्दाफाश करे ! जब कोई व्यक्ति मेरे आत्मसम्मानको ठेस लगाता है, मेरी ख्यातिपर प्रहार करता है, दूसरोंकी दृष्टिमें मुझे गिराने-की चेष्टा करता है, मुझे उचितसे कम आदर देता है अथवा किसी भी प्रकारसे मेरे अहंकारपर ठोकर मारता है तो मेरे तावका ठिकाना नहीं रहता !

× × ×

मेरी पत्नी, मेरे छोटे भाई,बहिन, मेरे बच्चे, मेरे अधीनस्थ कर्मचारी जब मेरी बात नहीं सुनते, मेरे आदेशोंका अक्षरशः पालन नहीं करते अथवा मेरी रुचि और इच्छाके विपरीत कोई काम करते हैं, तो मेरा गुस्सा दर्शनीय बन बैठता है !

× × ×

मेरी झूठी शानमें ठेस लगी नहीं, मेरी कमजोरियोंपर किसीने उँगली उठायी नहीं कि एँडीसे लेकर चोटीतक मेरा सारा शरीर क्रोधसे जल उठता है !

× × ×

निन्दा और अपमान होनेपर, उपेक्षा और तिरस्कार

होनेपर तो मेरा ही क्या, बड़े-बड़ोंका आसन डोल जाता है। चिढ़ानेपर, तिरस्कृत होनेपर मेरे क्रोधका पार नहीं रहता। मेरी शारीरिक अयोग्यतापर, मेरी जाति, वर्ण, कुल, विद्या, बुद्धि आदिपर कोई आक्षेप कर भर दे, मुझे चोट लग जानेपर, मेरे गिर जानेपर कोई हँस भर दे, मुसकरा भर दे, मेरा मखौल भर उड़ाये तब देखिये मेरा लाल होना !

× × ×

कोई व्यक्ति जब मुझपर व्यंग्य कसता है, मुझपर कार्टून बनाता है, मित्रमण्डलीमें, परिचितोंमें, सभा-सोसाइटीमें, क्लब या गोष्ठीमें मेरा निरादर करता है, मजाक उड़ाता है, व्याजसे भी कहीं मेरी निन्दा करता है तो मेरा रोम-रोम क्रोधसे जलने लगता है !

× × ×

यह मत समझ लीजिये कि सिर्फ इतनी ही बातोंपर मेरा क्रोध भड़कता है। मेरे क्रोधके कारणोंकी सूची बहुत लंबी है। जैसे—

मेरा कोई साथी अथवा मेरे अधीन काम कर चुकनेवाला कोई व्यक्ति जब धनसम्पत्तिमें, मान-सम्मानमें मुझसे बाजी मार ले जाता है तो मेरा क्रोध फुफकार उठता है—'हैं, मैं जहाँ-का-तहाँ पड़ा हूँ और यह मुझसे इतना आगे बढ़ गया' !……

× × ×

मुझे अनिद्राका रोग है, नींद नहीं आती, चिन्ताएँ आठ पहर चौंसठ घड़ी घेरे रहती हैं और कोई दूसरा मेरे सामने ही खर्राटेकी नींद लेता है, निश्चिन्त जीवन व्यतीत करता है, मौज-मस्तीसे जिंदगीके दिन काटता है, यह देख मेरे क्रोधका पार नहीं रहता !

× × ×

मैं भले ही झूठ बोलता रहूँ, 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो' की नीति अपनाता रहूँ, पर मुझे यह बर्दाश्त नहीं होता कि कोई दूसरा व्यक्ति झूठ बोले अथवा असलियतपर पर्दा डाले !

× × ×

मैं दुनियाभरकी खुराफातें करता रहूँ परंतु दूसरेसे कोई सामान्य-सा भी अपराध बन पड़े तो मैं उसे क्षमा करनेकी बात भी नहीं सोच सकता ! ऐसे मौकोंपर मेरा क्रोध देखते ही बनता है !

× × ×

'धोबीसे बस न चला तो गदहेके कान उमेठ दिये !'—इस तथ्यको मैंने जी-जानसे पकड़ रक्खा है। दफ्तरमें बड़े बाबू जिस दिन मुझपर अपना ताव उतारते हैं, उस दिन मेरी पत्नी और बच्चे उस तावके शिकार न बने तो मैं ही क्या !

× × ×

अपनी बेवकूफियाँ मेरी दृष्टिमें नगण्य रहती हैं, पर दूसरोंकी बेवकूफियोंपर मेरा बिगड़ उठना मेरे लिये स्वाभाविक है।

× × ×

भले ही मेरा दृष्टिकोण गलत हो, वाद-विवादमें कोई मेरे पक्षको चुनौती दे, फिर देखिये मेरा क्रोध !

× × ×

बच्चे पढ़ाईमें यदि मेरी आशाके अनुरूप प्रगति न करें अथवा व्यवहारमें ठीक वैसा न करें जैसा बुजुर्गोंको करना चाहिये, फिर देखिये मेरा ताव। मार-मारकर उन्हें उल्लू बनाये बिना मैं मान नहीं सकता।

× × ×

'टाकाय टाका बाढ़े !' किसीको क्रोधित होते देख मैं भी क्रुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता। पत्थरका जवाब पत्थरसे देनेमें मैं माहिर हूँ। ईसाका वह पर्वतवाला उपदेश मुझे फूटी आँख नहीं सुहाता कि 'कोई तुम्हारे दायें गालपर थप्पड़ मारे तो तुम उसके आगे बायाँ गाल भी कर दो !'

× × ×

अमुक व्यक्ति तुम्हारे खिलाफ ऐसा-ऐसा कह रहा था—यह बात कोई मुझसे आकर कह दे, बस, असलियतका कुछ भी पता लगाये बिना मैं क्रोधके हाथका खिलौना बन बैठता हूँ। बातका बतंगड़ बनते देर नहीं लगती।

× × ×

भले ही न्याय और सदाचारसे मैं कोसों दूर रहूँ पर मेरे सामने कोई अन्याय और दुराचार कर तो जाय ! अपराधीको दण्ड देनेके लिये मैं तत्काल कानूनको अपने हाथमें उठा लेता हूँ।

× × ×

तात्पर्य यह कि सुबहसे शामतक और शामसे सुबहतक एक-दो नहीं, कभी-कभी सैकड़ों ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जब मैं उत्तेजित हो उठता हूँ, मेरी शान्ति मेरा पल्ला छुड़ाकर भाग जाती है और मैं क्रोधके हाथोंकी कठपुतली बन बैठता हूँ।

जहाँ मेरे स्वार्थमें कोई बाधा पड़ी, जहाँ मेरी इच्छाके प्रतिकूल कुछ हुआ, मेरे आराममें खलल पड़ा, जहाँ कोई काम बिगड़ा, जहाँ कोई चीज खराब हुई, जहाँ किसीने मारा-पीटा, गाली बकी, व्यंग्य किया, निन्दा की, मेरे खिलाफ कुछ कहा, कुछ किया—बस, क्रोध देवता हाज़िर !

× × ×

'कामात्क्रोधोऽभिजायते !'

कामसे तो क्रोध आता ही है, लोभसे भी क्रोध आता है।

मोहसे भी क्रोध भड़कता है ।

मद और मात्सर्यसे भी क्रोधका जन्म होता है ।

कहा नहीं जा सकता कि हमारे अन्तसका कौन विकार कब क्रोधका रूप धारण कर लेगा ।

× × ×

उत्तेजनाके ये क्षण रात-दिनमें न जाने कितनी बार उपस्थित होते हैं । रोज हम कितने ही लोगोंके सम्पर्कमें आते हैं । सबके स्वार्थ अलग, सबके स्वभाव अलग, सबकी प्रकृति अलग, सबकी रुचि अलग, सबकी रुझान अलग । हाथकी पाँच अंगुलियाँ जब एक-सी नहीं, तब दूसरे लोगोंकी तो बात ही क्या ? एक पेटके जाये चार बेटे चार तरहके होते हैं । फिर यह आशा ही कैसे की जा सकती है कि सारी दुनिया मेरी ही रुचिके अनुसार घूमेगी ?

और जहाँ किसीने कोई बात मेरी रुचिके प्रतिकूल की कि मुझे क्रोध आया ! मेरी इच्छाके विपरीत कुछ हुआ कि मैं उत्तेजित हुआ !

× × ×

क्रोध जब आता है तो मेरा चेहरा लाल हो जाता है, भौंहें तन जाती हैं, आँखें लाल हो उठती हैं, नथुने फूल जाते हैं, नाक लाल हो जाती है, साँस तेजीसे चलने लगती है, जुबान बेलगाम हो जाती है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं, शरीरका रोम-रोम उत्तेजनासे भर उठता है !

क्रोधके आते ही मेरी शान्ति हवा हो जाती है, विवेक झख मारा करता है, बुद्धिका दिवाला खिसक जाता है, तन-बदनका सारा होश जाता रहता है और उस हालतमें मैं कुछ भी कर सकता हूँ ।

क्रोधके आवेशमें मैं गाली बक सकता हूँ, व्यंग्य कस सकता हूँ । स्त्री-बच्चोंपर ही नहीं, दूसरोंपर भी हाथ उठा सकता हूँ, कोई भी कुकृत्य कर सकता हूँ, भले ही बादमें उसके लिये पछताना पड़े !

उत्तेजनाके क्षणोंमें मैं मार-पीट, खून, कत्लतक कर सकता हूँ । और क्या नहीं कर सकता ?

× × ×

क्रोधका परिणाम किसीसे छिपा नहीं । जेलोंकी आबादी आधी भी न रहती यदि मानव क्रोधपर विजय प्राप्त कर पाता । वहाँ काम, क्रोध और लोभके ही शिकार तो चारों ओर दिखायी पड़ते हैं ।

लखनऊ सेंट्रल जेलमें ४२ में एक सीधे-सादे कैदीसे जब मैंने पूछा—'भाई ! तुम क्यों यहाँ चले आये ? तुम तो बहुत सीधे, ईमानदार और शान्त जान पड़ते हो !' तो वह बहुत शर्माकर बोला—'क्या बताऊँ भाईजी ! ससुरालमें जोरूकी विदा कराने गया था । उन लोगोंने उस समय उसे भेजनेसे इन्कार किया । मुझे गुस्सा आ गया और मैंने गँड़ासा उठाकर बीबीकी ही गर्दन उड़ा दी ! अब जिंदगीभर जेल काटनी है !'

× × ×

क्रोध अत्यन्त भयंकर मानसिक विकार है । आज घर-घरमें इतना लड़ाई-झगड़ा, द्वेष, घृणा और झिकझिक दीख पड़ती है, उसका मूल कारण यह क्रोध ही है ।

क्रोध प्रकट होता है तो कटुवाणीमें, तू-तू, मैं-मैं, गाली-गलौजमें, मार-पीट और कत्लमें । दबा रहता है तो घृणा और द्वेषका रूप पकड़ लेता है और मौका मिलते ही ज्वालामुखीकी तरह फट पड़ता है !

बीमारियाँ तो क्रोधसे न जाने कितनी पैदा होती हैं । चिन्ता, स्नायुदौर्बल्य, रक्त-चाप, मिरगी, बेहोशी, पागलपन आदि न जाने क्या-क्या हो जाता है क्रोधके कारण ! कहते हैं, क्रोधसे विषाक्त माताका दूध पीनेसे बच्चेकी मृत्युतक होनी सम्भव है ।

× × ×

व्यक्तिका क्रोध समाजमें फैलता है, समाजका राष्ट्रमें और राष्ट्रका सारे संसारमें । विश्व-युद्धोंका जनक क्रोध ही है । एटम बम, हाइड्रोजन बम आदिके भीतर हमारा यह क्रोध ही तो सिमटा-सिकुड़ा बैठा है । इसके फटनेकी देर है कि मीलोंतक सर्वनाशका ताण्डव होने लगता है ।

× × ×

जो क्रोध इतना भयंकर है, जो क्रोध आननफानन लाख-का घर खाक कर देता है, जो क्रोध जेल, कालापानी

और फाँसीतक पड़नेके लिये विवश कर देता है, जिस क्रोधकी परिणति दुःख और हाहाकारमें ही होती है, उसी क्रोधके विषयमें मैंने लोगोंको कहते सुना है—'क्रोधके बिना भी भला संसारका काम चल सकता है ?' वे कहते हैं—

अति सीधे मति होइये, कलुक व्यंग मन माहिं।
सीधी लकड़ी काटि लें, टेढ़ी काटैं नाहिं॥

× × ×

स्वामी रामतीर्थने इसका बड़ा सटीक उत्तर दिया है—'हम यह पूछते हैं कि क्या यह सच है कि 'टेढ़ी काटैं नाहिं ?' सच तो यह है कि समयपर सब कट जाती हैं, क्या सीधी और क्या टेढ़ी। केवल आगे-पीछेका भेद है। कटनेमें सब बराबर हैं।

'हाँ, अगर सचमुच अन्तर है तो यह है कि टेढ़ी लकड़ी काटी जाकर प्रायः जलायी जाती है, ईंधनके काम आती है और सीधी लकड़ी काटी जाकर जलायी नहीं जाती, वरं वह रंग-रोगनसे सजकर अमीरों, वृद्धों, महापुरुषों, शौकीनों, सुन्दरियोंके पवित्र कर-कमलोंका दंड (डंडा) बनती है या यदि मोटी और भारी हो तो मन्दिरों, मकानोंमें शहतीरका काम देती है, स्तम्भका पद पाती है।

'सीधी लकड़ी हर प्रकारसे अपनी पहली अवस्थाकी अपेक्षा उन्नति पाती और विकास-समन्वित होती है, जब कि टेढ़ीको अवनति और विनाश प्राप्त होता है।'

× × ×

अनुशासनके लिये कुछ लोग क्रोधको आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि क्रोधके बिना नौकर ढीठ हो जायँगे, दफ्तरोंका काम ठीकसे न चलेगा, लड़के बड़ोंका आदर न करेंगे। उनका कहना है कि क्रोध न किया जाय पर उसका स्वाँग तो करना ही चाहिये। कारण—

सीधी उँगली घी जम्यो क्यों हूँ निकसे नाहिं।

× × ×

परंतु मैं जानता और मानता हूँ कि क्रोधका स्वाँग भी खतरेसे खाली नहीं। एक बार 'अभिमन्यु-वध' का नाटक खेला जा रहा था। बेटा अभिमन्यु बना था, पिताको उसपर गदाका प्रहार करना था। परंतु क्रोधके आवेशमें पिता भूल बैठा कि उसे स्वाँग ही करना है। गदा-प्रहारसे 'अभिमन्यु' की खोपड़ी दरअसल खिल गयी। स्वाँग असलियत बन बैठा। खूनके फव्वारोंसे सारा स्टेज रँग गया।

× × ×

नौकरों, छात्रों और बालकोंमें, घर-दफ्तरमें अनुशासन लानेके लिये न क्रोधकी जरूरत है, न क्रोधके स्वाँगकी। दूसरोंमें अनुशासन लाना है तो पहले अपने-आपको अनुशासित करिये। आपको देखकर ही दूसरे लोग अनुशासनका पालन करने लगेंगे।

"Example is better than Precept !"

× × ×

(क्रमशः)

नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः।
धर्मबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम्।
पापबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥

(पद्मपुराण)

धर्मबीजसे उत्पन्न पुरुषकी प्रत्यक्ष पहचान है कि उसकी वाणी नवनीतके समान मृदु है तथा उसका मन दयासे कोमल होता है।

पाप-बीजसे उत्पन्न पुरुषकी प्रत्यक्ष पहचान है कि उसका हृदय दयासे रहित है और उसकी वाणी केवड़ेके पत्तेकी तरह तीखी और कँटीली है।

आइंस्टीन और भगवान् बुद्ध

(लेखक—श्रीकैलाशनाथजी मेहरोत्रा, एम्० ए०)

एक दिन नाजी-अत्याचारोंका शिकार एक यहूदी इतना संतप्त हुआ कि उसने उसी दिन जर्मनी देशको छोड़ दिया। वह फ्रांस, बेल्जियम, इंग्लैंडमें शरण लेता हुआ अमेरिका पहुँचा, जहाँ न्यू जरसी (यू० एस्० ए०) प्रिन्सटनकी एडवांस्ड स्टडीके इन्स्टीट्यूटमें उसे गणितके प्राध्यापकका पद मिला।

आज वह कुशल वैज्ञानिक 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त' के विकासमें संलग्न संसारमें एक राष्ट्रकी संस्थापनाके हेतु यत्नवान् है।

उसके सिरके बाल सफेद हो गये हैं। उसकी गहरी धँसी हुई आँखें दूर क्षितिजमें किसी रहस्यपूर्ण प्रश्नको सुलझाती हुई प्रतीत होती हैं। कितने ही नागरिक राहमें उसे देखकर नमस्कार करते हैं और वह उनका नमस्कार ग्रहण करता हुआ, गहन विचारोंमें तल्लीन, वेगसे पद बढ़ाये हुए चला जाता है।

वह व्यक्ति है—अलबर्ट आइंस्टीन।

आइंस्टीनने—जो कभी पेटेन्ट कार्यालयमें एक क्लर्क था—शोध करके पता चलाया तो विश्वके इतिहासमें एक नये समीकरणने प्रसिद्धि पायी।

शक्ति = पिण्ड × प्रकाशकी गतिका वर्ग। भौतिक विज्ञानमें इसका अर्थ है कि शक्ति जो किसी पिण्डमें अन्तर्हित होती है, बराबर है उस पदार्थके पिण्डके गुणित प्रकाशकी गतिके वर्गके।

उसने सापेक्षवादके सिद्धान्तकी खोज सन् १९१६ में की, परंतु उसे भौतिक विज्ञानपर सन् १९२१ में नोबुल पुरस्कार (लगभग १,९१,२०० रुपये) मिला।

प्रिन्सटन विश्वविद्यालयमें आये हुए उसको २१ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इन लंबे वर्षोंमें विज्ञानके विभिन्न पहलुओंपर मनन करते हुए, सिद्धान्तोंकी व्याख्या करते हुए उसने वैज्ञानिकोंको कई बार चुनौती दी और सदैव सफलता पायी।

उसके सिद्धान्तोंमें सापेक्षवादका सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे समझानेके लिये अनेकों पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक डेल कार्नेगीने बड़े ढंगसे इस प्रकार लिखा है कि इस सिद्धान्तके प्रतिपादक आइंस्टीनने ही अच्छा उदाहरण दिया है—

'जब आप किसी सुन्दरीके समीप एक घंटे बैठते हैं, तब आप (घंटा बीत जानेपर) यही समझते हैं कि केवल एक मिनट ही हुआ है।'

अब यदि गरम चूल्हेपर आपको एक मिनटतक बैठा दिया जाय तो आप कहने लगते हैं—ओह! घंटाभर हो गया।

'यदि आपको इसकी सत्यतामें संदेह है और आप समझते हैं कि ऐसा नहीं होता है, तो अच्छा है, मैं सुन्दरीके समीप बैठ जाऊँगा और आप गरम चूल्हेपर बैठ जायँ। समय दोनों अवस्थाओंमें बराबर ही रहेगा।'

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। आप अपने घनिष्ठ आत्मीयजनके आगमनपर उनसे किसी रुचिकर विषयपर वार्तालाप करने लगे। एक घंटा बीत गया, तब आपको रसोइयाने भोजन जीमनेके लिये बुला भेजा; परंतु वार्तालापमें आप ऐसे संलग्न हुए कि एक घंटा समय बीतते आपको न जान पड़ा और आप कह उठते हैं, 'अरे! अभी तो एक मिनट ही हुआ है।'

बस एक और उदाहरण पर्याप्त होगा।

आपके शरीरके किसी अङ्गमें फोड़ा पक आया है और आप ऑपरेशन हालमें आ बैठे हैं।

जिस समय फोड़ेपर नश्तर लगता है, उस समय लगभग एक मिनट समय लगता है, परंतु नश्तरके एक मिनटके समयको आप ऐसा प्रतीत कर कह उठते हैं—ओह! एक घंटा लग रहा है। किसी तरह बीत जाय।

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि समयकी गति सर्वत्र समान नहीं है।

परंतु आइंस्टीनके इस सिद्धान्तकी खोजके पहले यह ऐसा सर्वमान्य न था। तब यह माना जाता था कि समय संसारके किसी स्थानमें, जब एक मिनट या एक घंटा बीतता है, तो अन्य स्थानोंमें भी उतनी ही गतिसे बीतेगा अर्थात् मापदण्ड सब स्थानोंमें समान होगा।

यह विचारधारा तब बदली जब आइंस्टीनने सापेक्षवादका सिद्धान्त समयपर लागू कर उसे प्रमाणित किया। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि समयकी गति सापेक्ष होती है। समयकी एक निश्चितरूपमें आँकी हुई गति, साधारण क्रियाओंके परे इस लोकमें और अन्य लोकोंमें अधिक या न्यून हो सकती है।

इस भूमण्डलमें जिस समयका मान एक घंटा समझमें आता है, वह साधारण अवस्थाके परे इस लोकमें और अन्य लोकोंमें इसी माप-दण्डसे कम या अधिक हो सकता है। एक घंटा एक मिनट हो सकता है, एक दिन हो सकता है, एक वर्ष हो सकता है, एक युग हो सकता है।

आइंस्टीनने संसार और ईश्वरके विषयमें अपना मत प्रकट किया है। उसकी धार्मिक प्रवृत्ति जानने योग्य है।

उसने कहा है—

'मैं यह नहीं मानता हूँ कि ईश्वरने इस असीम जगत्‌का निर्माण विना किसी निश्चित योजनाके ही कर दिया है, जैसे कोई जुआरी पासा फेंकता है। मैं इसे कभी भी नहीं मान सकता हूँ कि ईश्वर दुनियाके साथ खिलवाड़ करता है।'

इस असीम जगत्‌के सम्बन्धमें भगवान् बुद्धने अबसे २५०० वर्ष पूर्व जो स्पष्टीकरण किया, उससे ज्ञात होता है कि सापेक्षवादके सिद्धान्तके वे ज्ञाता थे। उन्होंने पदार्थ और मनःशक्तिके सही लक्षणोंका सही ज्ञान प्राप्त किया था। दोनोंके यथोचित ज्ञान-लाभके लिये भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञानका गहन अध्ययन आवश्यक है। पदार्थ एवं मनःशक्ति एक दूसरेसे इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि भीतरसे दोनों एक रूप हैं।

उनका कथन है कि मनुष्य पदार्थ और मनःशक्तिका सम्मिश्रण है। इसी भाँति ब्रह्माण्ड भी पदार्थ और मनः-शक्तिका सम्मिश्रण है, परंतु प्राथमिक उपादान मन है और उसकी शक्तिकी तुलना नहीं है।

इस सम्बन्धमें यह जानना होगा कि मनमें कम्पन होते हैं—आकाशकी विद्युत्‌की एकबारगी झलकके समयमें लगभग ३,०००,०००,०००,००० बार। और क्या आप जानते हैं कि एकबारगी झलकमें कितनी शक्ति होती है?

एक बार बिजलीके इंजीनियरोंने वैज्ञानिक रीतिसे इसकी नाप-तौल की थी। यह पता चला था कि एकबारगी झलक १५,०००,००० वोल्ट्स और शक्ति लगभग २५०० मिलियन किलोवाट होती है। अब आप मनके एकबारगी कम्पनकी शक्तिका आभास पा गये होंगे। और मनःशक्ति भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें विभिन्न प्रकारकी होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि मनःशक्ति प्रत्येक प्राणीके पुण्य और पापके अनुसार प्रबल और दुर्बल होती रहती है।

अब भगवान् बुद्धके कथनानुसार ज्ञानवृद्धि करनी होगी।

पहले अनन्तत्व (Infinity) के गणितको समझ लेना होगा; किंतु इसको भली प्रकार समझनेमें तभी आसानी होगी जब सान्तत्व (Definity) के गणितको समझ लिया जाय।

तो क्या (१+१=२) एक धन एक बराबर दो होते हैं?

सान्तत्वके गणितमें वे दो होंगे।

इस प्रकार सान्तत्वको 'स' माननेपर

स+स =२ स
स−स =० स
स×स = स २
स÷स =१ स

यह ब्रह्माण्डके नाप-तौल करनेकी रीति अनन्तत्वके गणितमें लागू नहीं होती। उसमें प्रत्येक दशामें परिणाम अनन्त आता है।

इस भाँति अनन्तत्वको 'अन' मान लेनेपर

अन+अन =अन
अन−अन =अन
अन×अन =अन
अन÷अन =अन

इस प्रकार देखा जा सकता है कि अनन्तत्वमें रीति अव्यावहारिक है।

अनन्तत्वका कार्य-क्षेत्र दिक्, काल और सर्वत्र है।

दिक् और कालके सीमातीत होते ही उनमें एकरूपता आ जाती है।

परंतु असीमता जहाँतक बुद्धिगम्य है, दो दिशाओंमें काम करती है। संकर्षणकी असीमता और दिक् (विस्तार) की असीमता। विन्दु दो हैं—कालका विन्दु और स्थानका बिंदु। दोनों संकर्षणकी असीमताके नियमके अनुसार कार्य करते हैं।

दिक् (विस्तार) के भी दो रूप हैं—कालका विस्तार और स्थानका विस्तार। दोनों भूत और भविष्यत्‌की दिशामें विस्तारकी असीमताके नियमके अनुसार कार्य करते हैं।

दिक् (स्थान) के दो विन्दुओंके मध्यमें सतर खींची जाय तो 'मध्यवर्ती लंबाई' चाहे जितनी छोटी क्यों न हो, नापी जा सकती है

इसी प्रकार काल (समय) के दो विन्दुओंके मध्यमें सतर खींची जाय तो मनके दो कम्पनोंको नापा जा सकता है।

परंतु ब्रह्माण्ड चारों ओर अनन्त है। अतएव दिक्

(स्थान) का कोई बिन्दु, ब्रह्माण्डका केन्द्र है। इसी प्रकार काल (समय) का कोई बिन्दु कालका केन्द्र है।

अब यह सुनिश्चित है कि अनन्तत्वका गणितका नियम सब मात्राओंपर लागू होता है। जैसा बताया जा चुका है कि मनके दो कम्पनोंके बीचका समय आकाश-विद्युत्की एकबारगी झलकका ३०००,०००,०००,००० भाग होता है। इतने सूक्ष्म समयका विस्तार जाना जा सका है।

इस प्रकार ब्रह्माण्डके स्पष्टीकरणमें सापेक्षवादका सिद्धान्त यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है।

फिर प्राणियोंके पुण्य एवं पापके भारके अनुसार मनःशक्ति विविध प्रकारकी होती है। इसी विभिन्नताके कारण समयकी गति एक मानको नहीं लाती।

पाप अथवा पुण्यके भारसे आसन्न मनःशक्तिके कारण वर्षका मान उसी मापदण्डसे न्यूनाधिक हो सकता है। वह एक मिनट, एक दिन, एक मास, एक वर्ष ··· हो सकता है।

अब यह प्रत्यक्ष है कि भगवान् बुद्धके ब्रह्माण्डके स्पष्टीकरणसे पता चल जाता है कि उनको सापेक्षताका सही ज्ञान था और आइंस्टीनने इस सिद्धान्तका शोध कर तथ्यको प्रयोगोंद्वारा सिद्ध कर, दोनों भौतिक विज्ञान और अध्यात्म-ज्ञानका बड़ा उपकार किया है।

आइंस्टीनकी उन्नतिके मूलमें उनके दैवी विचारोंका सिंचन है। एक स्थानपर वे कहते हैं—

'कड़ुआ और मीठा, बाहरसे प्राप्त होता है; सख्त अंदरसे अपने श्रमसे।'

'अधिकतर मैं वही कर्म करता हूँ जिसे करनेके लिये मेरी प्रकृति मुझे प्रेरित करती है। उसके लिये इतना आदर और स्नेह मुझे संकोचमें डाल देता है। द्वेषके बाण भी मुझपर छोड़े गये हैं, परंतु वे मेरे कभी नहीं लगे; क्योंकि वे बाण उस दुनियाके थे जिससे मेरा कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।'

वह दिन दूर नहीं है जब संसारको ज्ञात होगा कि एक महर्षिने जगत्की रहस्यपूर्ण पहेलीको बूझ दिया और कल्याण-मार्ग प्रशस्त किया।

एक संतके सदुपदेश

[नाम प्रकाशित करनेकी आज्ञा नहीं]

(प्रेषक— भक्त श्रीरामशरणदासजी)

[१]

शिखा-सूत्रकी रक्षा करो

हिंदुओ! याद रक्खो—हमें सिर तो हर जन्ममें मिलता है। इस जन्मसे पहले भी हमें सिर मिल चुका है और इस जन्मके बाद भी यदि मुक्ति नहीं हुई तो हमें सिर मिलेगा, यह निश्चित है; किंतु मरनेके पश्चात् हमारा दूसरा जन्म फिर भी भारतमें हिंदूकेही घर होगा और हिंदू भी ऐसा जो चोटी और यज्ञोपवीत—शिखा-सूत्र रखता होगा यह कोई निश्चित बात नहीं है। इसलिये हमारा सिर भले ही चला जाय, पर हमारी चोटी और यज्ञोपवीत नहीं जाना चाहिये। इस चोटी, तिलक और यज्ञोपवीतकी रक्षाके लिये ही हमारे पूज्य प्रातःस्मरणीय श्रीगुरु तेगबहादुर साहबने अपना सिर हँसते-हँसते दे दिया था। तभी तो श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने कहा था—

कीन्हों बड़ो कलूमें साका। तिलक जनेऊ राखा प्रभु ताका॥
साधन हेत इती जिन करी। सीस दिया पर सी न उचरी॥

चोटी रखनेवाला व्यक्ति मनुष्योंमें उसी प्रकार चोटीका यानी ऊँचा मनुष्य है जिस प्रकार पहाड़ोंमें सबसे ऊँची चोटी। विद्वानोंमें चोटीका विद्वान् होता है। जिसके सिरपर चोटी है, वह मन्दिरके कलशके समान होता है।

चोटीवाला हिंदू दुष्ट नहीं होता और न सच्चा हिंदू कभी अनार्योचित कर्म करता है। वह न तो विदूषक होता है, न निन्दक। वह सत्य और धर्मका पालन करता है तथा वेद-मार्गका अनुगामी होता है। चोटीसे हीन प्राणीका शरीर मन्दिरके तुल्य नहीं, वह साधारण भवन हो सकता है, जिसमें अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म होने सम्भव हैं। जिसके सिरपर चोटी नहीं है उसमें और चोटीधारीमें वही अन्तर है कि जो एक साधारण गृहमें और एक मन्दिरमें होता है। जिन लोगोंने चोटीकी उच्चताका परित्याग कर दिया है, उन लोगोंने मानो अपने मन्दिरका कलश अपने हाथों उतारकर फेंक दिया है। ऐसे ही अपनी संस्कृति और आचारपर विश्वास न रखनेवाले लोग विदेशी भोगवादी सभ्यतामें रँगे

जाकर होटलोंमें और क्लबोंमें या नाचघरोंमें भोगेच्छाओंकी पूर्तिके लिये मदिरापान, नाच-रंग, अभक्ष्य-भक्षण करते देखे जाते हैं और समाजमें ऐसे व्यक्तियोंकी संख्यावृद्धि होते रहनेके कारण ही आज भारत वह गुण-गौरवमय भारत नहीं रहा है जिसका वर्णन प्राचीन इतिहास और आजसे कुछ ही सदियों पहले बाहरसे आनेवाले यात्रियोंने किया है। उन दिनों प्रत्येक हिंदूके सिरपर चोटी और प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके गलेमें यज्ञोपवीत तथा मस्तकपर तिलक रहता था और इन चिह्नोंकी पवित्रता-रक्षाके लिये प्राणदान करनेवाले किसी हिंदूके लिये दुराचारमय जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं था। इसलिये शिखा-सूत्रका परित्याग कभी न करो और उनके गौरवको समझो।

× × × ×

[२]

नारीका सम्मान करो

हमारे शास्त्रोंमें कहा है कि जहाँ नारीका सत्कार होता है, जहाँ नारीका पूजन होता है वहाँ देवशक्तियाँ निवास किया करती हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ नारियोंका तिरस्कार होता है, जहाँ नारियोंका अपमान होता है, वहाँ विनाशकारी आसुरी शक्तियाँ निवास करती हैं। नारीका इसमें अपमान नहीं है कि वह अपने घरका काम-काज करती है, पतिकी सेवा करती है, धर्माचरणपर दृढ़ रहती है। उसका अपमान तो वहाँ है जहाँ उसके पातिव्रत-धर्मको, उसके सतीधर्मको नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है। रावणने सती सीताका अपमान किया था, जिसके फलस्वरूप रावण अपने सारे कुलका नाश करवा बैठा और अपनी सोनेकी लंकाको फुँकवा बैठा। यह इसीलिये हुआ कि उसने सीताको पाप-पथपर चलनेकी प्रेरणामात्र की थी। यदि कहीं वह सीतापर हाथ डाल देता तब तो सारी लंका पृथ्वीमें ही धँस जाती। कौरवोंने श्रीद्रौपदीजीका ऐसा ही अपमान किया था और इससे उनकी जो दुर्दशा हुई, वह जगत्-प्रसिद्ध है। जो लोग आज नारी-स्वातन्त्र्य कर देनेके नामपर नारीको भोगसामग्री बनाते हैं वे स्त्रीका घोर अपमान करते हैं। यदि भारतीय हिंदू-नारीका अपमान करनेसे सोनेकी लंका नहीं बच सकी तो यह आजके होटल, क्लब, नाचघर, सिनेमा जहाँ नारीको उसके वास्तविक आदर्श स्वरूपसे हटाकर उसे उसके पवित्र चरित्र और पातिव्रत-धर्मसे पतित करके उसका अपमान किया जाता है, विध्वंससे कैसे बच सकेंगे? वेश्याको लोग इसीलिये तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं कि उसने अपने पवित्र नारीस्वरूपका स्वयं ही अपमान कर डाला है। फिर आज जो सुशिक्षित कहानेवाली हमारी लड़कियाँ भोगवादकी अनुगामिनी होकर परपुरुषोंके सामने नाचती हैं, गाती हैं और अपने सौन्दर्यका भोगकामी पुरुषोंसे प्रमाणपत्र चाहती हैं, उनको क्या कहा जाय? वस्तुतः यह नारीका घोर अपमान है जो बंद होना चाहिये, नहीं तो देश गर्क हो जायगा!

× × × ×

[३]

नारीको सिनेमाकी नर्तकियाँ मत बनाओ

आज चारों ओर जिधर भी जाइये, तरुणी लड़कियोंके नाच कराये जा रहे हैं, स्कूल-कालेजोंमें सबके सामने लड़कियाँ नचायी जाती हैं। माता-पिता भी इतने निर्लज्ज हो रहे हैं कि वे अपने सामने अपनी लड़कियोंको नाचते देखकर प्रसन्न होते हैं। बड़े-बड़े नेताओंके सामने, हजारों लड़कोंके सामने लड़कियाँ नाचती हैं और देशभक्तिका दम्भ भरनेवाले बड़े-बड़े लोग बड़ी दिलचस्पीके साथ उन्हें देखते हैं। फिर उनके नाच-गानकी खूब प्रशंसा की जाती है, उन्हें इनाम दिये जाते हैं और इस प्रकार भारतकी देव-स्वभाव हिंदू लड़कियोंको निर्लज्ज तथा शीलरहित बनाकर उनका जीवन बिगाड़ा जाता है और उन्हें पवित्र पातिव्रतधर्मसे च्युत किया जाता है। बाहरसे आये विदेशी राजदूतोंके सामने भी हिंदू कन्याओंको नचाया जाता है और उनसे वाहवाही ली जाती है। इस प्रकार धर्मप्राण भारतकी प्रतिष्ठाको कलाके नामपर धूलिमें मिलाया जाता है। सिनेमाकी नर्तकी बनकर शौकसे परपुरुषोंका स्पर्श करना, हँसी-मजाक करना, अङ्गोंका प्रदर्शन करना आदि कुमार्गमें प्रीति उपजानेवाले कार्य हमारी हिंदू-ललनाएँ कर रही हैं और इसमें केवल वही नहीं, उसके माता-पिता भी गौरवका अनुभव करते हैं! इस प्रकार भारतका गौरव धूलिमें मिलता जा रहा है। यदि यही क्रम देशमें चलता रहा तो सारा देश रसातलको चला जायगा।

× × × ×

[४]

नारीको होटल जानेसे रोको

क्या कभी आजतक इन होटलोंने, विलासमय क्लबोंने और नाचघरोंने कोई भी संत, महात्मा या वीर पैदा किये हैं?

इन होटलोंमें खानेवालोंमेंसे, जूँठी चायकी प्यालियाँ चाटनेवालोंमेंसे क्या कोई आजतक भी संत, महात्मा, आचार्य निकले हैं ? आज जिस चौके-चूल्हेको बुरा समझा जा रहा है। याद रहे कि इन चौके-चूल्हेवालोंने ही सारे संसारको बड़े-बड़े उच्च कोटिके धर्माचार्य, संत, महात्मा और धर्मवीर दिये हैं, जिनके सामने सारा संसार आज भी नतमस्तक है। और चौके-चूल्हेसे प्रेम रखनेवाली, पतिव्रता माताओंकी पवित्र कोखसे ही भगवान् श्रीराम, कृष्ण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तुलसी और सूर, महाराणा प्रताप, शिवाजी-जैसे नर-रत्न उत्पन्न हुए हैं। प्रह्लाद, ध्रुव, श्रवणकुमार, हकीकत, जोरावरसिंह, फतेहसिंह-जैसे पुत्ररत्न इन्हींने उत्पन्न किये हैं। आज बहुत-सी बहिन-बेटियाँ अपने हाथोंसे भोजन बनाकर नहीं खातीं। अपने हाथोंसे भोजन बनाकर खाना वे अपनी शानके विरुद्ध समझती हैं और फैशन बनाकर होटलोंके जूँठे, गंदे और अपवित्र पदार्थ खाने चली जाती हैं, जिससे धन-धर्म दोनोंका नाश होता है। भला, जो बहिन-बेटी होटलोंमें, चाहे जिसके हाथका बना अपवित्र पात्रोंमें और चाहे जैसा भक्ष्य-अभक्ष्य खाती डोलती हो और विलासी तथा उच्छृङ्खल युवकोंके साथ मेज-कुर्सीपर बैठकर स्वयं भी उच्छृङ्खल बन जाती हो, वह अपने मनको पवित्र तथा संयमित कैसे रख सकती है। होटलोंमें युवकोंके बीच बैठकर खाने-पीनेका यह दुष्परिणाम अवश्यम्भावी है। इसलिये बहिन-बेटियोंको होटलोंमें जानेसे रोको, भूलकर भी होटलोंमें न स्वयं जाओ और न उन्हें जाने दो।

× × × ×

[५]

नारीको पाखण्डी गुरुओंसे बचाओ

स्त्रियोंको किसी भी पुरुषको गुरु बनानेका अधिकार नहीं है। शास्त्र उसके लिये गुरु बनानेकी आज्ञा नहीं देते। शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये 'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्'। पति ही गुरु बताया गया है। जो स्त्री अपने पूज्य पतिदेवको छोड़कर किसी परपुरुषको अपना गुरु मानकर उसके चरण छूती और चरणोदक लेती डोलती है तो वह पाप करती है। और जो पुरुष परस्त्रीसे अपने चरण छुआता है वह भी पाप करता है। कन्याको भी किसीके चरण नहीं छूने चाहिये और न किसी भी साधु-महात्माको कन्यासे अपने चरण छुआने चाहिये। जो कन्यासे अपने चरण छुआते हैं वे बड़ा अनर्थ करते हैं। कन्या साक्षात् श्रीभगवतीका रूप है, छोटी-छोटी कन्याओंको बुलाकर उन्हें साक्षात् भगवती मानकर उनके रोली, अक्षत लगाकर उनका पूजन करना चाहिये, इससे श्रीभगवती दुर्गा प्रसन्न होती हैं और जो विवाहित स्त्री है, उसे भी परपुरुषका चरण नहीं छूना चाहिये और न स्त्रीको अकेले कभी भी किसी भी साधु-महात्माके पास जाना ही चाहिये। अपने पूज्य पतिदेवके साथ ही साधु-महात्माओंके दर्शनार्थ जाना चाहिये। जो सच्चा साधु हो और जो पतिका गुरु हो उसीसे पतिको अपनी स्त्रीके लिये मन्त्र लेना चाहिये और फिर पतिको ही स्त्रीको गुरुका बताया हुआ मन्त्र बतला देना चाहिये। जो लोग किसी स्त्रीको एकान्तमें बैठाकर उसका स्पर्श करते हैं, गुरु बनकर उसे मन्त्र देते हैं, उससे अपने चरण छुआते हैं, वे बड़ा पाप करते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिये। और जो पाँच पैसे, पाँच आने, सवा रुपया, पाँच रुपये, पचास रुपये या सौ रुपयेपर मन्त्र बेचते फिरते हैं, चेला-चेली बनाते फिरते हैं वे तो गुरु हैं ही नहीं, वे तो पाखण्डी हैं। गुरु बनना कोई खेल थोड़े ही है। गुरु वह बन सकता है जो शिष्यके सब पापोंको अपने ऊपर ले ले और उसे भवसागरसे पार कर दे। क्या ऐसे आजके गुरु हैं? आजके पाखण्डी गुरु बड़े खतरनाक हैं। आजके ये नेता भी कम खतरनाक नहीं हैं। ये भी उन्नतिके नामपर भले घरकी स्त्रियोंको रूप-सौन्दर्यकी प्रतियोगितामें भाग लेनेको उकसा-उकसाकर, पब्लिकके सामने उन्हें हाव-भाव दिखाती हुई वेश्याके समान नचाकर नरककी ओर ढकेल रहे हैं, इनसे भी सावधान रहना चाहिये।

× × × ×

[६]

वकीलनिर्मित विधान नहीं, ऋषिनिर्मित विधानसे ही सुख होगा

प्रश्न—आज देशकी अवनति क्यों हो रही है और देशमें सुख-शान्ति क्यों नहीं है ?

उत्तर—देशकी उन्नति हो तो कैसे हो जब कि देशमें धर्मका शासन नहीं है। हमारे शास्त्रोंमें राजाके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

राजा महान् कुलीन हो, उच्च वंशका हो, उसकी देवबुद्धि हो, वह सत्त्वसम्पन्न हो, दूरदर्शी हो, धार्मिक हो, अव्यसनी (व्यसनहीन) हो, विद्वान् हो, शूर-वीर हो, रहस्यवादी मन्त्रणा करनेवाला हो, दण्ड देनेमें समर्थ हो, विनीत भावसे वार्तालाप करनेवाला हो और गौ-ब्राह्मणोंका प्रतिपालक हो।

राजाके दोष इस प्रकार माने गये हैं—

नास्तिक, क्रोधी, प्रमादी, आलसी, दरिद्री, ज्ञानवानोंके दर्शन न करनेवाला, विषयोंका दास, समयपर कार्य न करनेवाला, अनर्थकारी काम करनेवाला, निश्चित समयपर निश्चय न करनेवाला और मन्त्रियोंसे मन्त्रणा न लेकर अपने इच्छानुसार करनेवाला। ये दोष यदि राजामें हों तो वह राजा राजा नहीं होता। जिसमें धर्म विराजमान होता है, उसे ही 'राजा' कहते हैं। जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजारंजन होता है। भारतीय संस्कृतिके अनुसार राजाकी नियुक्ति और राजधर्मके लिये राजविधान ऐसे ऋषियोंके हाथोंमें होते हैं कि जिनका किसी दलबंदीसे सम्बन्ध न हो, बल्कि जो प्रजा-कल्याण और प्रजामें सत्य, न्याय, धर्मका उत्थान करनेके हेतु पक्षपातसे रहित होकर अपनी आत्मशक्ति और ज्ञानदृष्टिके द्वारा सभी प्राणियोंको समान भावसे देखते हुए शास्त्रोंके आधारपर विधान बनावें। आजका हमारा विधान तो पाश्चात्योंका उच्छिष्ट है, उसे ऋषियोंने नहीं बनाया, उसे वकीलोंने बनाया है। दलबंदी रखनेवालोंका विधान भेदभावको मिटानेवाला कैसे हो सकता है? यही कारण है कि एक पार्टीका राज्य होते ही वह अपनी विरोधी पार्टीवालोंको जेलमें डाल देती है। उन्हें बंदी करनेका कारण यह नहीं होता कि उन्होंने कोई अपराध किया है बल्कि राज्य करनेवाले दलको यह भय होता है कि कहीं वह राज्य ही हमारे हाथोंसे न ले लें? इस प्रकार आजके समाजमें ऋषिनिर्मित शास्त्रीय विधानको हटाकर पक्षपातयुक्त वकीलबुद्धिसे निर्मित विधानकी स्थापना करके राजनीतिक छूत-छातको जन्म दिया जा रहा है। इसका व्यावहारिक भयंकर रूप यह है कि इससे समाजमें कलह, द्वेष और लड़ाई-झगड़े बढ़ रहे हैं। अनैतिक रूपसे व्यक्तिका पतन होता जा रहा है और झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, झूठे मुकदमे करना, झूठे मुकदमेमें फीस लेकर उसे सत्य सिद्ध करना, यह आज साधारण बात हो गयी है। अधिकांश शासकोंमें पवित्र उच्च चरित्र तथा शास्त्रोक्त दैवी गुण न होनेके कारण उनका जीवन विलासी हो गया है और उन्हींकी देखा-देखी समाजमें उच्छृङ्खलता, दुराचार, व्यभिचार, पापाचार, फैल रहा है।

× × × ×

[७]

भारतके ऋषियोंकी अद्भुत देन

आजके भोगवादी और पार्थिव दृष्टिकोण रखनेवाले लोग शरीरपर नियन्त्रण रखनेके लिये कानून बना सकते हैं; किंतु शरीरसे पाप हो ही नहीं, ऐसा विधान बनाना इनके वशकी बात नहीं है। भारतीय ऋषियोंका विधान शरीरपर ही नहीं, बल्कि शरीरके राजा मनपर भी नियन्त्रण करता है। वह सर्वप्रथम मनको ही सुधारता है और जब मन सुधर जाता है तब शरीरसे तो अपने-आप ही पाप नहीं होता। मतलब यह कि भोगवादियोंका विधान शरीरतक ही देखता है। वह उससे आगे नहीं देखता, पर हमारे भारतीय पूज्य ऋषियोंका विधान शरीरका और शरीरके स्वामी मनका दोनोंका नियन्त्रण करते हुए आत्माकी ओर देखता है। सारे संसारको केवल भारतकी और ऋषियोंकी यह अद्भुत देन है और जबतक संसार इसका अनुगामी नहीं होगा, तबतक वह अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त नहीं हो सकता।

× × × ×

[८]

गोमाताकी रक्षा प्राणपणसे करो

जिस पूजनीया गायको वेद भगवान्ने 'गावो विश्वस्य मातरः' विश्वकी माता बताया है। जिस गायको ऋषियोंने परम पूज्य माना है, जिस गायको साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णने नंगे पाँवों जंगल-जंगल चराया है और अपनी इष्टदेवता मानकर जिसका पूजन किया है, जिसमें शास्त्रोंने समस्त देवी-देवताओंका वास बताया है, वही तुम्हारी गायमाता आज भूखी मारी-मारी डोल रही है और कसाइयोंके हाथों बुरी तरह मारी जा रही है यह कितना घोर पतन है? गायको माता बताते हैं, माता मानते हैं और फिर भी गायको बेचते हैं कसाइयोंके हाथ। यह कितना बड़ा पाप है? जब गाय दूध देती है तो देखा जाता है कि उसे खूब खाना देते हैं पर जब वह दूध देना बंद कर देती है तो उसका खाना कम कर देते हैं और भूखों मारने लगते हैं, क्या यही मनुष्यत्व है? अरे, बुढ़ापेमें गाय माताकी सेवा न कर उसे निकम्मी समझ कसाईके हाथ बेच देना—क्या इससे भी बढ़कर कोई और पाप होगा? भूलकर भी गायको नहीं बेचना चाहिये। बूढ़े गाय-बैलोंकी हमें खूब सेवा करनी चाहिये और उन्हें खूब खिलाना-पिलाना चाहिये, इससे बड़ा पुण्य है। गाय ही तो हमारी ऐसी पूज्या माता है कि जो हमें भवसागरसे पार लगाती है।



विज्ञानके इस युगमें धर्म-भावनाकी आवश्यकता

(लेखक—डा० राजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

अपने दु:खकी निवृत्तिके लिये मानवने जो प्रयत्न किये हैं, उनमें विज्ञान, दर्शन तथा धर्मरूपी साधनोंकी प्राप्ति प्रमुख है । विज्ञान प्रकृतिकी खोज है । वास्तविकताकी खोजके फलस्वरूप उपलब्ध कर्तव्योंके समुच्चयका ही दूसरा नाम धर्म है तथा अन्त:करणके विषयमें चिन्तनका ही नाम दर्शन है ।

व्यावहारिक जीवनमें धर्म और विज्ञानका विशेष महत्त्व है । धर्मका सम्बन्ध हृदयसे है और विश्वास उसका मूलाधार है, विज्ञानका सम्बन्ध मस्तिष्कसे है, विचार और तर्क इसके मूलाधार हैं ।

धर्मकी सामान्य परिभाषा यह है कि 'जो अभ्युदय तथा नि:श्रेयसकी सिद्धि कराये, वह धर्म है' अर्थात् कर्तव्या-कर्तव्यका दूसरा नाम धर्म है, पाप और पुण्यका विचार कर्तव्याकर्तव्य एवं शुभाशुभका निर्णय इसका प्रमुख लक्षण है । पुण्य और पापके बीचमें विभाजन-रेखा खींचना एक दुस्तर कार्य है; क्योंकि उसके अन्तर्गत देश और कालका विचार अनिवार्य है । इस समस्याको सुलझानेके लिये धर्मके दो रूप बताये गये हैं—प्रमाण-धर्म और व्यवहार-धर्म । समयके प्रभावसे हम व्यवहार-धर्ममें अत्यधिक उलझ गये हैं। मत-मतान्तर, बाह्य आडम्बर आदि ही उसके सामान्य रूप रह गये हैं । विज्ञानके इस युगमें रहनेवाला सामाजिक प्राणी आज धर्मके विषयमें उदासीन है । इतना ही नहीं, वह उस-पर भाँति-भाँतिके आक्षेप करने लगा है । उसका सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि 'पाप-पुण्य क्या है ? धर्म सदा बदलता रहता है । धर्म केवल सुविधा और अवसर-वादिताका ही दूसरा नाम है । परमात्माके पास धर्म नापनेके अनेक यन्त्र होंगे……।' उन लोगोंसे हमारा निवेदन है कि धर्म अखण्ड और एकरस है, उसके नापनेका एक ही थर्मामीटर है । ऋषियोंने प्रामाणिक रूप इस प्रकार बताया है कि 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।' अर्थात् जो बात अपनेको बुरी लगती हो, वह दूसरोंके प्रति मत करो । इसीकी व्याख्यारूप गोस्वामीजीने पुण्य और पापका यह लक्षण निर्धारित कर दिया है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीडा सम नहिं अधमाई ॥

हर बातमें क्यों और कैसे करना वैज्ञानिकोंका प्रबलतम अस्त्र है । परिणामस्वरूप मनुष्य प्रत्येक बातको शङ्काकी दृष्टिसे देखने लगा है । यहाँतक कि कभी वह अपनेको पशुओंका वंशज मानने लग जाता है, कभी अपने पिताके पितृत्वको स्वीकार करते हुए संकोच करने लगता है और कभी वह अपने जन्मको माता-पिताके उपकारका हेतु न मानकर उनके कामुक विलासका परिणाममात्र मानने लगता है, आदि । आजका विज्ञान-विशारद प्रत्येक वस्तुका विश्लेषण करना अपना परम कर्तव्य समझता है । फलस्वरूप वह मनुष्यके शरीरको किसी महती शक्तिका आवास न मानकर कैल्शियम्-फॉसफरस आदि पदार्थोंसे निर्मित एक चलता-फिरता पुतलामात्र मानने लगा है । हर बातमें वह आँकड़ोंकी दुहाई देना चाहता है, उनके द्वारा दूसरोंको बहकानेके फेरमें वह कभी-कभी स्वयं अपने-आपको भी धोखा दे बैठता है; आदि । सारांश यह कि हम आज हृदय-पक्षकी उपेक्षा करके बुद्धि-पक्षपर अत्यधिक बल देने लगे हैं । परिणामस्वरूप हम हर-बातको विवादके द्वारा तय करना चाहते हैं और साथ ही अपनी बुद्धिको सबसे बड़ा तथा अपने तर्कको सबसे श्रेष्ठ मानने लगे हैं । विवादका कहीं अन्त नहीं होता है, इसी कारण हमारी बुद्धि कहीं टिक नहीं पाती है । हम भूल जाते हैं कि जहाँ अधिक गहराई

हो, वहाँ बल्ली लगाकर थाह नहीं लेनी चाहिये, वहाँ स्टीमर अथवा जहाजमें होकर पार कर लेना चाहिये—'अतर्क्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' हमें कहीं-न-कहीं तो रुकना ही पड़ेगा। आँतोंको चीरनेके बाद, जो कुछ भी हमारे हाथ लगेगा, उसके द्वारा हमें ग्लानि ही होगी—हमें अपने प्रयत्नोंके प्रति विशेष आस्था न रह जायगी।

आधुनिक विज्ञानका इतिहास अरब देशसे 'एलकैमी'के रूपमें प्रारम्भ हुआ। यूरोपमें उसने 'कैमिस्ट्री'का रूप धारण किया और वहाँसे वह भारतवर्षमें आया। न अरबवाले मसजिदोंको तोड़नेकी बात करते हैं, न यूरोपवाले गिरजाघरोंको गिराना चाहते हैं, परंतु भारतवर्षवालोंको विज्ञानने मन्दिरोंका—धर्मके प्रतिरूपोंका विरोधी बना दिया है। कुछ लोगोंको अपने इन भाइयों-पर क्रोध आता है, कुछ लोग इनपर तरस खाते हैं, हम केवल इतना ही कहते हैं कि हमारी परिस्थितिमें जो भी होगा, उसकी यही दशा हो जायगी; क्योंकि वर्षोंकी दासताने हमें आत्मविस्मृत बना दिया है। धर्म ही हमें यह सोचनेको बाध्य करता है कि इस जीवनके परे भी कुछ है, संसारका प्रत्येक पदार्थ अपने उद्गम स्थानकी ओर चला जा रहा है, हमें भी अपने उद्गम स्थानकी खोज और प्राप्ति करनी चाहिये। इन सब बातोंके लिये दासोंके पास अवकाश नहीं होता है। कहा भी है—'गुलामोंका कोई धर्म नहीं होता है।' (Slaves have no religion.)

विज्ञानकी उन्नति अथवा वैज्ञानिक युगके प्रमुख लक्षण तीन हैं—१—प्रकृतिपर विजय, २—मशीनों अथवा यन्त्रोंकी अत्यधिक उन्नति तथा ३—तर्कवादिताका आधिक्य। इस तृतीय लक्षणका अभिप्राय यह है कि कोई किसीकी मानता नहीं है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक आचरणको युक्तियुक्त सिद्ध करनेके लिये लंबे-लंबे व्याख्यान देता है। गोस्वामीजीने कलियुगका निरूपण करते समय ठीक ही कहा है—

मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥

आप यदि भारतवर्षके इतिहासपर एक दृष्टि निक्षेप करें तो सहज ही इस निष्कर्षपर पहुँच जायँगे कि इस देशमें पहले भी कई बार इस प्रकारकी वैज्ञानिक उन्नति हो चुकी है। आप रावणका ही उदाहरण ले लीजिये। उसके यहाँ वायु आदि पाँचों तत्त्व, कुबेर, मृत्यु आदि बंदी थे। यह थी उसकी प्रकृतिपर महान् विजय। भाँति-भाँतिके अस्त्र उसके पास थे। मायावी वह ऐसा था कि स्वयं अनेक स्वरूप धारण कर सकता था, अपने विरोधी रामका नकली सिर बना सकता था। यह था उसका विज्ञानपर अधिकार। धर्मका वह ऐसा विरोधी बन गया था कि सब कुछ देखकर और सुनकर भी उसे भगवान्‌के प्रति विश्वास नहीं होता था और अन्तमें वह मारा ही गया। बातें ऐसी बनाता था कि उसके भाई, मन्त्री, उसकी पत्नी, उसके विरोधी सभीको उसके सम्मुख चुप हो जाना पड़ता था। आप देखेंगे कि आज भी ठीक वही दशा हो रही है। विध्वंसकारी अस्त्रोंकी प्रगतिका अन्त नहीं है। आज एटम बम निकला है, तो कल हाइड्रोजन बम निकलेगा और परसों ऑक्सीजन बमकी बात सोची जायगी। प्रत्येक सतर्कता बरतनेपर भी नित्य नयी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, परंतु फिर भी हमें विश्वास नहीं होता है कि विश्वका संचालन कोई महती शक्ति करती रहती है। इतना ही नहीं, राजनीतिके कर्णधार व्याख्यान देनेकी कलाके आचार्य हैं, वे बड़ी-से-बड़ी भूलको युक्तिसंगत एवं न्यायसिद्ध कर सकते हैं।

लोक-परलोक और पुनर्जन्मकी चर्चा धर्मभीरुताके आवश्यक अङ्ग हैं। इनके कारण राजा और प्रजा दोनों ही औचित्यानौचित्यका विचार करनेके पश्चात् ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। राजाको धर्मका आदेश था, अथवा राजाको यह विश्वास था कि—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

धर्मभीरु राजाको अपनी प्रजाकी बातका कितना ध्यान रहता था, यह बतानेके लिये सीता-वनवासवाली घटनाकी ओर संकेत कर देना पर्याप्त है, परंतु आज विज्ञान और तर्कके युगमें कुम्भके अवसरपर होनेवाले नरसंहारको भी उपेक्षापूर्ण दृष्टिसे देखा जा सकता है ।

विज्ञानके इस युगमें यह एक फैशन-सा बन गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तर्कपूर्ण बुद्धिसमन्वित होनेका दावा करता है तथा अपनी अक्लको बहुत ज्यादा समझता है। परिणाम सामने है, आज विनय एवं शीलके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं । कहाँ हैं आज महात्मा सुकरातकी भाँति यह कहनेवाले विनयशील व्यक्ति कि 'मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता, तुम नहीं जानते कि तुम नहीं जानते ?'* नैतिक आचरणके लिये यह परम आवश्यक है कि हम अपनेमें लघुत्वका अनुभव करें, किसी महान् शक्तिके महत्त्वकी ओर अग्रसर होनेका प्रयास करें । महत्त्वकी प्रतिष्ठा विश्वासके ही आधारपर हो सकती है, तर्क-बुद्धिके द्वारा वह कदापि सम्भव नहीं है । वीरवर अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने यही कहा था कि 'तू अपने कर्मोंको मुझमें अर्पण कर, संसारके प्रत्येक पदार्थ और कार्यमें मैं उपस्थित हूँ। तू चिन्ता मत कर, मैं तेरा समस्त कष्टोंसे उद्धार कर दूँगा'...।' आदि । स्पष्ट है कि जिसे हम अकेलेमें छिपाकर करना चाहते हैं, वही पाप है । जो काम हम भगवान्‌के नामपर करते हैं, वह पाप हो ही नहीं सकता; क्योंकि पाप करनेवाला साक्षी नहीं चाहता है । अर्जुनने किया भी वही और वह कौरव-जैसे शक्तिशाली दुर्धर्ष शत्रुको परास्त करनेमें समर्थ हुआ ।

हमारे शरीरमें मस्तिष्क और हृदय दोनोंका स्थान है । हमारे जीवनमें बुद्धि और भावना दोनोंका ही उपभोग है। बुद्धिविहीन विश्वास अन्धा है और विश्वास-विहीन बुद्धि लँगड़ी है। दोनोंके सम्यक् सामञ्जस्यके द्वारा ही जीवनका सुखद पक्ष निखर सकता है ।

भगवान्‌के निम्नलिखित वचनोंके प्रति अखण्ड विश्वासके आधारपर ही भारतवासी आजतक जीवित हैं। वे जीवनके प्रति अपनी आस्था बनाये हुए हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
(गीता ४ । ७)

हमें भलीभाँति यह समझ लेना चाहिये कि विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रगतिके द्योतक ध्वंसकारी साधन हमारा अस्तित्व कदापि न मिटा सकेंगे । हमें अत्यधिक दुखी देखकर, हमें मरणासन्न देखकर भगवान् अवश्य ही हमारे रक्षार्थ प्रकट होंगे । जबतक हमारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति विश्वास न होगा, तबतक हम कष्टोंको क्षण-भङ्गुर समझकर सहन न कर सकेंगे। जबतक हमारे हृदयमें धर्मभीरुताका प्रादुर्भाव न होगा, तबतक हम अपने पड़ोसियोंको सतानेमें संकोच न कर सकेंगे । न डालर सद्भावनाके बीज बो सकेंगे और न एटम बम मैत्रीके भाव ही उत्पन्न कर सकेगा । विश्व-बन्धुत्वके भाव उत्पन्न करनेके लिये, विश्वमें सुख-शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये हमें अपनी विचारधाराको एक नवीन साँचेमें ढालना होगा । हमें समझ लेना होगा कि प्राणिमात्रका माता-पिता परमात्मा है, अतः हम सब भाई-भाई हैं । हम केवल प्राकृतिक तत्त्वोंसे बने हुए चलते-फिरते पुतले नहीं हैं, बल्कि भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए धर्मसंदेशवाहक जीव हैं । हमें अपने सदाचरण-द्वारा धर्मका स्वरूप प्रतिष्ठित करना है, तभी हम अपने स्रष्टाके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करनेमें समर्थ होंगे। दार्शनिक स्पिनोजाने ठीक ही कहा है कि 'स्वर्गलोकका नक्षत्रपूर्ण नभोमण्डल और हमारे अन्तःकरणकी पुकार, धर्मरूप भगवान्‌के अस्तित्वके स्वयं-सिद्ध प्रमाण हैं ।'†

---

* I know that I do not know, You do not know that you do not know.
† Starry heaven above and the voice of the conscience below are proofs positive of the existence of God.

श्रीरामका ग्राम्य-जीवन और ग्रामीण जन-स्नेह

(लेखक—ज्यो० पण्डित श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी)

प्रजावत्सल भगवान् श्रीरामका ग्राम्य-जीवन और ग्रामीण प्रजाके साथ सहवास और स्नेह उनके आनन्द-मय जीवनका सबसे मधुर और सुखदायक प्रसङ्ग है। नगरोंमें या ग्रामोंके समीप या वनोंमें जहाँ भी श्रीराम पहुँचते थे, प्रजाजन अपनी सुध-बुध भूलकर उनपर मोहित हो जाते थे और वे भी प्रेमपूर्वक प्रजामें घुल-मिल जाते थे। उनके जनकपुरमें पहुँचनेका वर्णन है—

जहँ जहँ गवने बंधु दोउ, तहँ तहँ भीर बिसाल।
बाल जुबा अरु बृद्ध सब, डोलहिं संग बिहाल॥
'नर-नारिन्ह मोहत फिरत गली-गली महँ घूम।'

यह राजपुत्रोंका और जनताका सम्पर्क था। ग्राम-वासियोंके प्रेमकी दशा तो और भी अधिक हृदयपर असर डालती है। वनवास-कालमें जब श्रीराम ग्रामोंके पाससे जाते हैं तो ग्रामवासियोंकी प्रीति और रीतिका गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं॥
गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥

ग्रामवासी कितने सहज भावसे और स्नेहसे श्रीरामजीसे पूछते हैं—

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ तहँ लगि पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई॥
एहि बिधि पूँछहिं प्रेमबस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि कहि बिनीत मृदु बैन॥

जिस ग्रामके पाससे श्रीराम जाते थे, गाँवके बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष अपने घरोंके सब काम-काज छोड़कर तुरंत उनके साथ चल देते थे—

सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि ढेरी॥

अर्थात् ग्रामवासियोंकी उस समयकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती, मानो दरिद्रोंने देवताओंकी मणियोंकी ढेरी पा ली हो। भारतीय आदर्शको निभाते हुए ग्रामवासी प्रेम-भरी सेवा श्रीरामचन्द्रजीकी करते हैं—

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेषी॥

ग्रामवासी एक बरगदकी अच्छी छाया देखकर व[हाँ] कोमल तिनके और पत्ते बिछाकर श्रीरामजीसे प्रेमपूर्वक कह[ते] हैं कि यहाँ क्षणभर बैठकर थकावट दूर कर लीजि[ये] और पूछते हैं कि आप अभी जायँगे या सबेरे जायँगे। एक ग्रामीण कलसा भरकर पानी ले आया और म[धुर] वाणीसे कहता है कि 'नाथ! मुँह-हाथ धोकर थो[ड़ा] जल पी लीजिये। कृपालु श्रीरामजी भी उनके प्य[ारे] वचन सुनकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वहाँ बैठकर उ[न्हें] आनन्द देते हैं और बातचीत करते हैं, प्रेमकी मू[र्ति] श्रीरामजी प्रेमके प्यासे ग्रामवासियोंको अपनी स्नेहभ[री] बातचीतसे तृप्त कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास[जी] कहते हैं—

थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से॥

प्रेमके प्यासे ग्रामवासी स्त्री-पुरुष थककर ऐसे ख[ड़े] हो जाते हैं जैसे हिरनी और हिरन वनमें दिया-सा देखक[र] थक जाते हैं। ग्रामोंकी स्त्रियोंका श्रीजानकीजीके सा[थ] प्रेम-वार्तालाप और व्यवहार तो और भी चित्त[को] आनन्द देनेवाला होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी[ने] इसका कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

सीताजीके समीप गाँवकी स्त्रियाँ जाती हैं, पर अति स्नेहके कारण पूछते सकुचाती हैं। सब बार-बार पैरों लगती हैं और सहज स्वभावसे मधुर वचन कहती हैं कि 'राजकुमारी! हम सब आपकी विनती करती हैं, पर स्त्री-स्वभावसे कुछ पूछते डरती हैं। हे स्वामिनि! हमारी ढिठाईको क्षमा करना, हमें गँवारिन जानकर बुरा न मानना, करोड़ों कामदेवोंको लजानेवाले ये तुम्हारे कौन हैं?' सीताजीने भी सकुचाकर और मुसकराकर उनको प्रेमपूर्वक ही उत्तर दिया। वे ग्रामवधूटी उनके उत्तर-को सुनकर ऐसी प्रसन्न हुईं मानो किसी कंगालने राजाका कोष लूट लिया हो। जब श्रीराम वहाँसे चलने लगे तो ग्रामवासियोंको ऐसा दुःख हुआ, मानो उनका सर्वस्व जा रहा हो। श्रीराम सबको बड़ी कठिनाईसे प्रेमपूर्वक समझाकर लौटाते थे। श्रीरामको छोड़कर गाँवोंमें वापस जानेसे ग्रामवासियोंको भारी दुःख और पछतावा होता था, उनकी आँखोंमें जल भर आता था। श्रीरामके थोड़े समयके सहवाससे ही गाँवके लोग प्रेमवश हो जाते थे, श्रीरामको देखकर गाँव-गाँवमें ऐसा ही प्रेमपूर्ण और आनन्ददायी दृश्य हो जाता था। प्रेमकी मूर्ति श्रीराम सुन्दर ग्रामों और वनोंमें बसनेवाली प्रजासे समान भावसे मिलते-जुलते थे और सभीको अपनी मधुर वाणीसे संतुष्ट करते थे। चित्रकूटपर कोल-किरात, भील सभी सदा उनकी सेवामें लगे रहते थे, उन्होंने केवटपर अनुपम कृपा की, भीलोंके राजा गुहको अपना सखा बनाया, वनोंमें बसनेवाले मुनियों और संतोंके साथ सहवास कर उन्हें संतोष और शान्ति दी। वानरोंके राजासे मित्रता की और वानरोंकी संगठित सेना सजवाकर असुरोंका अन्त किया। इस प्रकार जंगलोंमें १४ वर्ष बिताकर आततायी, छली, कपटी, दुष्ट दैत्योंको मारकर श्रीरामने दीन वनवासी प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा की। महाबली और अभिमानी रावण और उसके दुष्ट साथियोंको समाप्तकर अयोध्यापुरीमें वापस आकर आदर्श रामराज्यकी स्थापना की। राज-गद्दीपर बैठनेपर भी महाराज रामचन्द्रने प्रजाकी इच्छा और भावनाको सदा पहला स्थान देकर माना। उनके राज्यमें पुरजनोंकी सभा थी, जिससे वे सदा परामर्श लिया करते थे। एक साधारण धोबीके कहने मात्रपर उन्होंने अपनी जीवन-सङ्गिनी जानकीको त्याग दिया। प्रजाके कष्टकी कानमें भनक पड़ते ही वे अधीर हो जाते थे और उसे तुरंत दूर करते थे। लवणासुरके अत्याचारोंसे दुखी व्रज-प्रदेशकी प्रजाकी पुकारपर श्रीरामने अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको भेजकर उसका वध कराया। वहाँकी प्रजाको निर्भय करके मथुरापुरी बसायी। इस प्रकार प्रजाको प्रसन्न रखनेवाले रामका समस्त जीवन प्रजाको निर्भय और सुखी रखनेमें ही बीता है। उन्हीं रामकी और उनके रामराज्यकी यादमें, प्रजाके सदाचार, सद्व्यवहार, सुख-समृद्धि और शान्ति-के युगकी यादमें आर्यवीर श्रीरामके समयसे आजतक इस देशमें रामनवमीका शुभ दिन हम मनाते हैं। श्रीरामके जन्मको लाखों वर्ष हो गये पर प्रजाका हित चाहनेवाले लोकोपकारक उनके राज्यकालके सुख-समृद्धिका समय भारतकी प्रजाके हृदयपर अमिट है जो करोड़ों युग बीत जानेपर भी सदा याद रहेगा और प्रजाके प्यारे रामकी पवित्र जन्मतिथि भारतीय प्रजा-द्वारा पवित्र भावनासे मनायी जायगी।

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

मित्रता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'केवल एक प्रार्थना आप स्वीकार करें !' युवकने कप्तानसे लगभग गिड़गिड़ाकर कहा—'मैं जहाजपर रहूँगा । शर्माको आप नौकापर ले लें ।'

'कप्तान !' शर्माने बड़े दृढ़ स्वरमें कहा—'चिट्ठियोंने जो निर्णय किया है, उसे बदलनेका अधिकार आपको भी नहीं है । शीघ्रता कीजिये । देर करनेसे नौका भी जहाजके साथ जायगी ।'

जहाजका पेंदा फट चुका था । बड़ा भयंकर तूफान आया था समुद्रमें । जहाजको नियन्त्रणमें रख पाना अशक्य हो गया और निश्चित मार्गसे भटकनेका फल जो हो सकता था हुआ । किसी समुद्रमें डूबे पर्वतसे (मूँगेका पर्वत भी हो सकता है) जहाज टकरा गया । पेंदेके मार्गसे समुद्रका पानी शीघ्रतासे भरता जा रहा था । बचनेकी कोई आशा नहीं थी ।

बेतारके यन्त्रने समाचार भेज दिये चारों ओर; किंतु इतनी शीघ्र सहायता पहुँच सके, यह तो अशक्य है । कोई भी अच्छा बंदरगाह पास नहीं । रक्षा-नौकाएँ उतारी गयीं । वृद्ध, बालक एवं महिलाएँ उनपर बैठा दी गयीं । अन्तमें केवल एक नौका रही । उसपर केवल पंद्रह व्यक्ति बैठ सकते थे । 'कौन बैठें ? किसे मरनेको छोड़ दिया जाय ?' कप्तानने चिट्ठियाँ डलवायीं और जो पंद्रह नाम पहले निकले, उन्हें नौकामें बैठाना निश्चित हो गया ।

बड़े विचित्र होते हैं ये भारतीय । एक ओर प्राणोंके लाले पड़े हैं और यह शंकरदत्तजी हैं कि अड़े हैं—'मैं नौकापर नहीं जाऊँगा । मेरे स्थानपर नन्दलाल शर्मा जायेंगे ।'

'शंकर ! बचपन मत करो । चिट्ठी तुम्हारे नाम निकली है ।' नन्दलाल कोई बात सुनना नहीं चाहते । 'जाकर नौकापर बैठो ।'

'कोई चलो, पर चलो !' कप्तानको इससे मतलब नहीं कि कौन चलेगा । उसे शीघ्रता है—'मैं और प्रतीक्षा नहीं कर सकता ।'

'आप नौका खोल दें !' शंकरदत्तने दृढ़ स्वरमें कहा—'हम दोनों साथ मरेंगे ।'

'मि० शर्मा ! आप भी पधारें ।' कप्तान इस मित्रतासे इतना प्रभावित हुआ कि उसने नौकामें एक व्यक्तिका अधिक भार होनेपर कोई भय हो सकता है, इस बातकी उपेक्षा कर दी । 'हम सोलह व्यक्ति लेंगे नौकामें ।'

लेकिन नौकामें बैठ जानेसे ही प्राणरक्षा हो जाय, ऐसी आशा किसीको नहीं थी । तूफान—वह तूफान जिसमें जहाज पथ-भ्रष्ट होकर फट गया था, शान्त नहीं हुआ था । उस तूफानमें रक्षा-नौकाओंकी रक्षाका ही कितना भरोसा ?

जिसकी आशङ्का थी, वही हुआ । रक्षा-नौका लहरोंके प्रवाहमें बह चली—बहती गयी और लहरके थपेड़ेसे, शार्क या अन्य किसी जलजंतुके आघातसे—पता नहीं कैसे सहसा टुकड़े-टुकड़े हो गयी । अभागे यात्री—सागरकी उत्ताल तरंगें और ऊपर खुला आकाश—कोई उनका क्रन्दन सुननेवाला भी वहाँ नहीं था ।

समाचारपत्रोंमें दूसरे दिन उस जहाजके डूबनेका समाचार छपा । एक भारतीय जहाज उस समय समुद्रमें कहीं पास ही था । उसने बेतारके यन्त्रपर सहायताकी पुकार सुनकर दौड़ लगायी । समाचारपत्र तथा देशके शासकों एवं संस्थाओंने भारतीय जहाजके कर्मचारियोंके

साहसको धन्यवाद दिया था। भयंकर तूफानके चलते उस भारतीय जहाजने डूबते जहाज तथा रक्षा-नौकाओं-पर बैठे प्रायः सभी यात्रियोंको बचा लिया था। केवल एक रक्षा-नौका नहीं मिल सकी। उसके कुछ यात्री, जिनमें डूबनेवाले जहाजका कप्तान भी था, समुद्रमें टूटे तख्तोंके सहारे तैरते हुए उठाये गये थे। एक जहाज दुर्घटनामें डूब जाय और पाँच-सात प्राण-हानि हो, यह कोई गिनने-जैसी हानि नहीं थी।

× × ×

[२]

'हम कहाँ हैं ?' खुरदरी काली चट्टानपर कोई उसका सिर गोदमें लिये बैठा था। प्रचण्ड धूपने पत्थरको गरम कर दिया था। कितनी देर मूर्च्छित रहा वह, पता नहीं। नेत्र खोलनेपर एक वार उसने इधर-उधर देखना चाहा। समुद्रके किनारे ही पड़ा था वह और उसका मस्तक अपने मित्रकी गोदमें था।

'तुम उठ सकते हो ?' नन्दलालने सिरपर हाथ फेरते हुए कहा—'तनिक प्रयत्न करो। थोड़ी दूर खिसकनेसे हम छायामें पहुँच जायँगे।'

उठनेकी उसने चेष्टा की और वह ओ ओ करके वमन करने लगा। समुद्रका जो पानी पेटमें चला गया था, उसका निकल जाना अच्छा ही हुआ। नौका डूबनेपर दोनों भाग्यसे एक ही तख्तेको पकड़ सके थे। उसके बाद क्या हुआ, यह किसीको पता नहीं। लहरोंके थपेड़ोंने श्वास लेना असम्भवप्राय कर दिया। मूर्च्छा आ गयी उन्हें।

नन्दलाल शर्मा कुछ पहले जागे। मूर्च्छासे ही नहीं, महामृत्युसे जगने-जैसा लगा उन्हें। लहरोंने किनारे चट्टानपर पटक दिया था। अङ्ग-अङ्ग जैसे टूट गया था। शरीरके कितने स्थान फटकर घाव बन गये हैं, यह जानने-समझनेकी शक्ति नहीं थी। मस्तक दर्दसे फटा जा रहा था और पेटमें जैसे ज्वालामुखी जाग गया हो। मिचली आयी और सबसे पहले मुखमें अँगुली डालकर वमनकी क्रियाको उन्होंने सहायता दी।

'शंकर कहाँ है ?' पेटमें गया समुद्रका जल निकलते ही पीड़ा इतनी कम हुई कि मस्तक हिलाकर इधर-उधर देखा जा सके। उनका मित्र उनसे तीन-चार हाथपर चित पड़ा था। उसके शरीरके घावोंसे निकल-कर रक्त उस काली शिलापर जहाँ-तहाँ जम गया था।

समुद्रका ज्वार उतर गया था। तूफान प्रायः शान्त हो गया था। नन्दलाल शर्माको अपनी पीड़ा भूल गयी, वे पेटके बल धीरे-धीरे खिसकने लगे। वह चार हाथकी दूरी चार योजन-जैसी बन गयी थी। शरीर तवेकी भाँति ज्वरसे जल रहा था और ऊपर धूपमें असह्य तेजी थी। किसी प्रकार खिसकते हुए वे मित्रके पास पहुँचे। शरीर छूते ही यह आश्वासन मिल गया—जीवन है।

'हम कहाँ हैं ?' शंकरदत्तने उठनेका प्रयत्न किया और फिर लुढ़क गया। दोनोंकी दशा लगभग एक-जैसी थी।

'कहाँ हैं, यह कौन जाने; किंतु यहाँसे कुछ गजपर वृक्ष है। तुम साहस करो!' नन्दलालजी समझते थे कि चाहे जो हो, वृक्षोंतक खिसक ही चलना चाहिये। यहाँ पड़े रहनेसे तो मृत्यु निश्चित है। पीनेयोग्य पानी कहीं आस-पास है या नहीं, पता नहीं और यहाँ धूप तथा ज्वरके कारण कण्ठ सूख रहा है।

'पानी ?' शंकरदत्तने माँग नहीं की। उसने केवल जानना चाहा कि आस-पास कहीं जल है या नहीं ?

'तुम छायातक खिसक चलो तो मैं जलकी खोज करनेका प्रयत्न करूँ।' नन्दलाल शर्माने उठनेमें सहायता दी। वैसे स्वयं उनके लिये उठना और खिसकना अत्यन्त कष्टदायक हो रहा था; किंतु वे नहीं चाहते थे कि शंकरदत्तको यह अनुभव हो कि उन्हें भी कुछ पीड़ा है।

'तुम्हें कहाँ चोट लगी है ? बड़ा तीव्र ज्वर है तुम्हें ।' शंकरदत्तने अब नन्दलालका हाथ पकड़ा और उनकी ओर देखना प्रारम्भ किया । उठनेका प्रयत्न करनेके बदले वह उनके मुखकी ओर एकटक देखने लगा । उसके नेत्रोंसे धारा चलने लगी ।

'मुझे कुछ नहीं हुआ ।' नन्दलालजीने उसके नेत्र पोंछ दिये । 'तुम रोओ मत ! जो आपत्ति आ पड़ी है, उसे साहस तथा धैर्यसे ही टाला जा सकता है । उठो तो सही !'

दोनों ही इस योग्य नहीं थे कि उठकर खड़े हो जाते । बैठकर एक दूसरेके सहारे खिसकते, रुकते किसी प्रकार वृक्षकी छायामें पहुँचना था उन्हें ।

× × ×

[३]

'भगवान् ही सबके रक्षक हैं । वे दयामय हमारी भी रक्षा करेंगे !' वृक्षकी छायामें पहुँचकर दोनों प्रायः लुढ़क गये । नेत्र खुलते नहीं थे । नन्दलाल शर्मा नेत्र बंद किये-किये ही मित्रको आश्वासन दे रहे थे ।

'हे बजरंगबली !' शंकरदत्त श्रीहनुमानूजीके उपासक हैं । वे अपने आराध्यका इस संकटमें न स्मरण करें तो कब स्मरण करेंगे ।

सहसा एक धमाका हुआ । दोनों चौंककर बैठ गये । दोनोंके मध्य वृक्षके ऊपरसे एक बंदर गिर पड़ा था । वह कूदा नहीं था, गिर ही पड़ा था और थर-थर काँप रहा था । अपने सब अङ्ग उसने समेट लिये थे और सिर दोनों घुटनोंमें दबा रक्खा था ।

'शेर आ रहा है ।' सोचने-समझनेका समय नहीं था । पचास गजसे भी कम दूरी रह गयी थी । वृक्षोंके बीचसे निकलकर वनराज चढ़मड़ करता बड़ी धीर गतिसे बढ़ा आ रहा था । बंदर शेरके भयसे ही काँप रहा था और शेरके भयसे ही वृक्षसे लुढ़क भी पड़ा था वह ।

'शरणागत है यह ।' शंकरदत्तको निश्चय करनेमें दो क्षण भी नहीं लगे । वह बंदरको अपने पेटके नीचे दबाकर उसके ऊपर झुक गया ।

'मरना ही है तो हम तीनों साथ मरेंगे ।' नन्दलाल शर्मा अपने मित्रको नीचे करके उसके ऊपर झुक रहे ।

'क्या करते हैं आप ?' लेकिन शंकरदत्तको न हिलनेका समय मिला न बोलनेका । एक हाथसे नन्दलालजीने उसका मुख बंद कर दिया । शेर पास आ गया था ।

शेर सचमुच वनका राजा है । काली धारियोंसे सजा उसका पीला वर्ण, उसकी गम्भीर चाल और सबसे बढ़कर उसका गौरवपूर्ण स्वभाव । वह न गीदड़-जैसा ओछा है, न चीते-जैसा धूर्त । उस वनराजके सम्बन्धमें कोई नहीं कह सकता कि कब वह क्रोध करेगा, कब कृपा करेगा और कब क्षमा कर देगा ।

शेर पास आया । दो क्षण रुका रहा । कुतूहलसे देखता रहा टीलेके समान एक दूसरेपर पड़े तीनों प्राणियों-को । उसने कदाचित् सोचा होगा—'यह कौन-सा पशु है ? अपने वनमें ऐसा गोलमटोल पशु तो मैंने देखा नहीं । कैसी गन्ध आती है इससे ? बंदरकी और बंदरसे विचित्र भी । मैं मारूँगा इसे ? वनका राजा मैं इस बिना पैरके कछुएके समान पड़े रहनेवाले पशुको मारूँ । क्या हुआ जो यह खूब बड़ा कछुआ है ।' कोई प्राणी अपरिचित आहार सहसा मुख-में नहीं डालता । शेर किसी विवशतासे मनुष्य-भक्षी न बन जाय, तबतक मनुष्यपर चोट नहीं करता और उस वनमें कभी मनुष्य आया होगा—संदेह ही है ।

शेर जैसे आया था, वैसे ही दूसरी ओर चला जा रहा था । जब वह ओझल हो गया, नन्दलाल शर्मा उठकर बैठ गये । शंकरदत्तने भी बंदरके ऊपरसे अपने-को अलग किया । बंदर कई क्षण वैसे ही सिकुड़ा बैठा

रहा। इसके बाद जब उसने नेत्र खोले—पहले दो पैरोंपर खड़े होकर इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया और फिर उन दोनों मनुष्योंको देखता और कई प्रकारके संकेत करता रहा। सम्भवतः वह कृतज्ञता प्रकट कर रहा था। सहसा वहाँसे वह एक ओर भागने लगा और वृक्षोंकी डालियोंपर कूदता वनमें चला गया।

'पास ही कहीं जल होना चाहिये।' नन्दलाल शर्मा ठीक कह रहे थे। 'शेर पानी पीने गया हो सकता है या फिर पानी पीकर लौटा होगा।'

'समुद्रके किनारे कहीं मीठा पानी होगा, यह तो कठिन ही है।' शंकरदत्तने इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया। छायाकी शीतलताने बहुत कुछ कष्ट कम कर दिया था। अकस्मात् जो भय आया था, उसकी शरीर-पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई थी। बहुत पसीना आया और ज्वर उतर गया।

'महावीरजी ही हमारी रक्षा करने आये थे?' शंकर-दत्तने फिर गद्गद कण्ठसे कहा।

'लगता है, हमारे लिये उन्होंने एक नवीन मित्र भेज दिया है।' नन्दलालजीने देख लिया था कि वह बंदर लौट रहा है। वृक्षोंपरसे चढ़ना-उतरना बड़ा कठिन हो रहा है उसके लिये। किसी प्रकार दो बड़े-बड़े कच्चे नारियल मुख और एक हाथके सहारे पकड़े चला आ रहा है उन्हींकी ओर।

× × × ×

[४]

'शंकर! तुम भारतीय हो और एक भारतीयके लिये क्या यह उचित आचार है?' कई दिनों देखते रहनेके बाद नन्दलालजीने अपने मित्रको समझानेका निश्चय किया। आज वे उसे एकान्तमें ले आये हैं इसीलिये।

'मैं मनुष्य हूँ शर्मा! मनुष्यके संयमकी एक सीमा है।' शंकरदत्तने मस्तक झुका रक्खा था।

'तुम भारत लौटनेको उत्सुक नहीं हो? या तुम उसे भारत ले जानेको प्रस्तुत हो?' नन्दलालने सीधा प्रश्न किया।

'मेरी स्त्री, मेरे बच्चे और मेरा हृदय भारतमें ही है।' जन्मभूमिके स्मरणसे ही शंकरदत्तके नेत्र भर आये। 'हम वहाँ इस जीवनमें पहुँच सकेंगे या नहीं, कौन जानता है।'

'तुम उसे साथ ले चलनेका साहस करोगे, यदि चलनेका अवसर आवे?' नन्दलालजीने फिर पूछा।

'उसे ले चलना—छिः!' शंकरदत्तने मुख बनाया। 'यह कैसी बात सोचते हो तुम? यह कैसे सम्भव है? आवश्यकता भी क्या है इसकी?'

'कोई आवश्यकता नहीं है?' बड़ा तीक्ष्ण व्यंग था। 'वह एक वन्य कन्या है। कुरूपा है। असभ्य जातिकी है। तुम्हें इसीसे यह अधिकार है कि उसको चाहे जैसे ठगो!'

'इसमें ठगनेकी क्या बात है?' शंकरदत्तने सिर उठाया—'उसकी जातिमें कुछ पातिव्रत नहीं चलता! उसे कोई असुविधा नहीं होती है।'

'तुमने बता दिया है?' स्वर कठोर हो गया—'न बताया हो तो मैं उसके पिताको बता दूँ कि तुम विवाहित हो और भारत लौटनेको उत्सुक भी।'

'वह सुनते पागल हो जायगा!' शंकरदत्त चौंक पड़ा। उसके मित्रके मनमें यह बात आयी कैसे? 'तुम चाहते हो कि वह क्रूर जंगली मेरी बोटियाँ कुत्तों-को खिला दे?'

'यह कुछ बुरा नहीं होगा।' नन्दलालजीपर कोई प्रभाव न पड़ा। 'एक भारतीयका इतना पतन हो जाय कि वह झूठ बोलने लगे, भोले वन्य लोगोंको धोखा देकर उनकी कुमारियोंसे अपनी कुत्सित वासना पूरी करना चाहे, इससे अच्छा है कि वह मार डाला जाय।'

दोनों ही भाग्यसे जहाँ पहुँच गये थे, वह कोई वन्य भूमि थी । ऊँचे वृक्ष, घनी लताएँ और सभी प्रकारके वन-पशु । यह तो उन्हें बहुत पीछे पता लगा कि वे अफ्रिका महाद्वीपपर हैं । भूलते-भटकते एक गाँवमें पहुँच गये थे वे । चारों ओर ऊँची लकड़ियोंका सुदृढ़ घेरा बनाकर बीचमें जंगल काटकर स्वच्छ भूमि निकाल ली है वहाँके लोगोंने । कुछ झोपड़ियाँ हैं उस भूमिके मध्य । केले लगे हैं आस-पास और कुछ खेत भी हैं । सामान्य जंगली जातियाँ आखेटजीवी होती हैं और यह गाँव इसमें अपवाद नहीं है । केवल इतनी बात है कि अफ्रिकाके घोर वनोंमें रहनेवाली जातियोंके समान यहाँके लोग नरभक्षी या मानव-शत्रु नहीं हैं ।

समुद्रका तट दूर-दूरतक जहाजोंके ठहरनेके योग्य नहीं । कहनेको यह गाँव ब्रिटिश-उपनिवेशका भाग है; किंतु इतनी दूर है उपनिवेशकी मुख्य बस्तियोंसे कि गाँवके बड़े-बूढ़ोंको ही स्मरण है कि गाँवमें एक बार तीन शिकारी साहब कुछ हब्शी मजदूरोंके साथ आये थे । जब नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्तजी ग्राममें पहुँचे उनका स्वागत-सत्कार हुआ । ग्रामके लोगोंने समझा—'ये दोनों साहब ही हैं ।' कपड़े पहननेवाला उनके लिये साहब होगा या साहबका कृपापात्र । वे तो कमरमें छालकी लँगोटी लगाते हैं । स्त्रियाँ खजूरके पत्तोंका बना घाघरा पहनती हैं ।

कोलतार-जैसा काला शरीर, मोटे-मोटे ओठ, पीले-गंदे दाँत—उनकी भाषाका एक शब्द शंकरदत्त नहीं जानता था । पण्डित नन्दलालजी शर्मा विद्या-व्यसनी हैं । यात्रासे पहले ही उन्होंने मूक-संवाद (केवल ओठ हिलाकर बातचीत) बड़े परिश्रमसे सीखी । प्रायः सभी जंगली जातियाँ बातचीतकी यह पद्धति जानती हैं । अफ्रिकामें यह नित्यकी बात है कि दो ऐसी जातिके हब्शी परस्पर मिलें जो एक-दूसरेकी भाषा नहीं जानते । मूक-संवादकी पद्धतिको उस महाद्वीपकी सार्वभौम भाषा माननी चाहिये । इस भाषाके कारण ग्रामके निवासियोंसे परिचय कर लेनेमें नन्दलालजीको कठिनाई नहीं पड़ी । शंकरदत्तने भी अपने मित्रसे यह भाषा कुछ गिने दिनोंमें ही सीख ली ।

अर्धनग्न लड़कियाँ और युवतियाँ—भले वे अत्यन्त कुरूप सही, किंतु मनुष्यके भीतर जब वासना जगती है·······। शंकरदत्तको उनके मध्यमें ही रात-दिन रहना था । पता नहीं क्यों, उनमेंसे कई इस गोरे दीखनेवाले युवकसे बहुत आकर्षित हो गयी थीं । शंकरदत्तने भी एकसे अधिक घनिष्ठता बढ़ा ली और बात इस सीमातक पहुँच गयी कि उसके सावधान मित्रको उसे अकेले ले जाकर समझाना आवश्यक जान पड़ा ।

'तुम मित्र हो ?' दो क्षण तो शंकरदत्त स्तब्ध खड़ा रहा ।

'तुम श्रीहनुमान्‌जीके उपासक हो ?' नन्दलालजीने उत्तर दिये बिना कहा—'तुम्हें लज्जा नहीं आती ?'

'मैं क्या करूँ ? तुम मुझे क्षमा कर दो ।' स्वरमें बहुत थोड़ी ग्लानि थी ।

'देखो शंकर ! मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ । तुम जानते हो कि मैं झूठ नहीं बोला करता ।' नन्दलालजी-का स्वर बड़ा गम्भीर बन गया—'तुम यह भी जानते हो कि तुमपर थोड़ी भी विपत्ति हो तो मुझे उसे मिटानेके लिये मर-मिटनेमें भी प्रसन्नता होगी । लेकिन मेरा मित्र कदाचारी हो जाय, धूर्त एवं कपटी बने और मरनेके बाद जन्म-जन्मतक नरकोंमें सड़े, इसकी अपेक्षा मैं पसंद करूँगा कि वह मार डाला जाय । उसके देहका मोह मुझे रोक नहीं सकेगा ।'

× × ×

'शर्मा मेरे सच्चे मित्र हैं । सच्चा प्रेम करना आता है उन्हें ।' शंकरदत्त अब गद्‌गद कण्ठसे अपने मित्रका गुणगान करता है—'वे न होते तो मैं डूब

चुका था—महासागरसे कहीं भयंकर पापके अगाध दलदलमें डूब ही गया था मैं।'

समुद्रके किनारे सूखी लकड़ियोंके ढेर करना और उनमें अग्नि लगा देना—शर्माजीने यह नियम बना रक्खा था। उनका परिश्रम सफल हुआ। उधरसे निकलनेवाले एक जहाजने धुआँ देख लिया। कुतूहल-वश ही किनारे आया था वह जहाज; किंतु उसके कप्तानको भी कम प्रसन्नता नहीं हुई दो भारतीय नागरिकोंका इस प्रकार उद्धार करनेमें।

नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्त—अब ये दो मित्र ही नहीं हैं। उनका मित्रमण्डल तीनका हो गया है। उसमें एक बंदर भी है जो अफ्रिकासे उनके साथ ही आया है और अब नन्दलालजीके बगीचेमें ऊधम करनेकी पूरी स्वतन्त्रता पा गया है।

यज्ञोपवीत और गायत्री-जपकी महिमा

(लेखक—श्रीघनश्यामदासजी जालान)

द्विजोंके संस्कारोंमें 'उपनयन' एक प्रधानतम संस्कार है। इसी संस्कारसे द्विज-बालकको वैदिक कर्मका अधिकार प्राप्त होता है एवं उसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। इस संस्कारसे ब्रह्मज्ञान या भगवत्प्राप्तिके प्रमुख साधन संयम, ब्रह्मचर्य, सदाचार, सत्-शिक्षा, सत्-ज्ञान, सद्भाव और पारमार्थिक उत्थानका पवित्र और परम उपादेय सूत्रपात होता है। सुयोग्य, सदाचारी आचार्यके द्वारा उपनयन-संस्कारका कार्य सम्पन्न होते ही आचार्यके गुणोंका श्रद्धालु शिष्यमें संचार होने लगता है और उन गुणोंकी सहायता तथा अपनी साधनाके प्रभावसे उपनयन-संस्कारसे सम्पन्न द्विज-बालक विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, प्रगल्भता आदिकी प्राप्तिके द्वारा उत्तरोत्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर होता हुआ अपनेको ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी बना लेता है। उपनयनमें आचार्य निम्नलिखित मन्त्रके द्वारा अपने हाथसे शिष्य ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देता है और बालक उसको हाथमें लेकर मन्त्र पढ़ता है—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इस मन्त्रके द्वारा परम पवित्र यज्ञोपवीतका ब्रह्माजीके साथ ही आविर्भाव होना एवं आयु, बल, तेज आदिकी वृद्धि करनेकी उसकी शक्तिका परिचय प्राप्त होता है। ब्रह्मतत्त्व और वेदतत्त्वकी सूचना देनेवाला होनेसे इसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं—

सूचनाद् ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्॥

यज्ञोपवीतमें नौ तन्तु और तीन दण्ड होते हैं—उन नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान बताया गया है—

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः।

'प्रथम तन्तुमें ॐकार, दूसरेमें अग्नि, तीसरेमें अनन्त, चौथेमें चन्द्रमा, पाँचवेंमें पितृगण, छठेमें प्रजापति, सातवें-में वायुदेव, आठवेंमें सूर्य और नवेंमें सर्वदेवता प्रतिष्ठित हैं।'

ब्रह्मचारी द्विज-बालक यज्ञोपवीत धारणकर उसके तन्तुओंमें स्थित नौ देवताओंके निम्नलिखित गुणोंसे सम्पन्न हो सकते हैं। इस बातको जानकर दृढ़ धारणा करनेसे ही उनके गुणोंका संचार होता है। गुण ये हैं—

१ ॐकार—एकत्वका प्रकाश, ब्रह्मज्ञान।
२ अग्नि—तेज, प्रकाश, पापदाह।
३ अनन्त—अपार धैर्य, अचञ्चलता, स्थिरता।
४ चन्द्रमा—शीतलता, सुधावर्षा, सर्वप्रियता।
५ पितृगण—स्नेहशीलता, आशीर्वाददान।
६ प्रजापति—प्रजापालन, प्रजास्नेह।
७ वायु—बलशालिता, धारण-शक्ति।

८ सूर्य—स्वास्थ्य-प्रदान, मलशोषण, अन्धकारनाश, प्रकाश।

९ सर्वदेवता—दैवीसम्पत्ति, सात्त्विक जीवन।

इस ब्रह्मसूत्रको ब्रह्माजीने बनाया, भगवान् विष्णुने त्रिगुणित किया, भगवान् रुद्रने इसमें ग्रन्थि दी और सावित्री देवीने इसे अभिमन्त्रित किया। (ग्रन्थि देते समय इन चारोंका स्मरण-ध्यान करनेसे इनके गुण, ज्ञान तथा बलका लाभ होता है।)—

ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्।
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै साविच्या चाभिमन्त्रितम्॥

यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ अंगुलका होता है। इसमें रहस्य है। मानवमान ८४ अंगुलका और देवमान ९६ अंगुलका माना गया है। यज्ञोपवीत धारण करके द्विज-बालक ब्रह्मतत्त्व और वेदतत्त्वके परिज्ञानको पाकर देवत्वकी उपलब्धि करता है और अन्तमें ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है। इसी भावसे ९६ देवमानका यज्ञोपवीत बनता है।

इसके अतिरिक्त तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्डका अर्थात् शरीर, वाणी तथा मनके संयमका विधान किया गया है। काय-संयमके द्वारा ब्रह्मचर्य, गुरु-देवता-पूजन, अहिंसा, तप आदि, वाणीसंयमके द्वारा सत्य, मित, हित, मधुर वाणीका उच्चारण और मनः-संयमके द्वारा मनकी निर्मलता, कोमलता, भगवच्चिन्तनपरायणता, नियन्त्रित स्थिति और भावशुद्धिकी प्राप्ति होती है, जो भगवत्प्राप्तिके लिये यज्ञोपवीतधारी द्विजको परमावश्यक है।

ऐसी महान् महिमावाला यज्ञोपवीत कोई साधारण बटा हुआ धागा नहीं हो सकता। गृह्यसूत्रोंमें इसकी बड़ी सुन्दर निर्माण-विधि मिलती है। कात्यायन गृह्यसूत्रमें इस प्रकार विधि बतायी है—

'अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः। ग्रामाद्बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्णकृतसंध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपो हिष्ठेति तिसृभिः शन्नो-देवीत्यनेन सावित्र्या चाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिःसंताड्य, व्याहृतिभिस्त्रिवलिं कृत्वा पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा, पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यम-पितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य सम्पूजयेत्। देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परीत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन धारयेदित्याह भगवान् कात्यायनः।'

अर्थात् अब हम यज्ञोपवीतके निर्माणकी विधि कहते हैं। यज्ञोपवीत-निर्माताको चाहिये कि गाँवसे बाहर किसी तीर्थ-स्थान, मन्दिर या गोशालामें जाकर अनध्यायरहित किसी भी दिन संध्यावन्दनादि नित्यकर्म तथा यथाशक्ति गायत्री-जप करके ऐसे सूतसे यज्ञोपवीत बनावे जो किसी ब्राह्मण या ब्राह्मण-कन्याद्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणीद्वारा काता हुआ हो। इस सूतको 'ॐ भूः' इस मन्त्रका उच्चारण करके एक बार अङ्गुष्ठसहित चारों अंगुलियोंके मूल भागपर लपेटे। 'ॐ भुवः' इस मन्त्रसे दूसरी बार तथा 'ॐ स्वः' इस मन्त्रसे तृतीय आवृत्ति की जाय। तदनन्तर 'आपो हि ष्ठा' 'शन्नो देवी' 'तत्सवितुः' इत्यादि तीन मन्त्रोंसे जलसे भिगोकर बायें हाथपर रखकर तीन बार फटकारे। फिर प्रणवसहित तीनों व्याहृतियोंसे बल देकर इन्हीं मन्त्रोंसे त्रिगुणितकर पुनः बल दे और प्रणवसे ब्रह्मग्रन्थि लगा दे। उसके नौ तन्तुओंमें क्रमशः उपर्युक्त ओङ्कार, अग्नि आदि उपर्युक्त देवताओंका आवाहन-स्थापन करे। 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यके सम्मुख करके 'यज्ञोपवीतम्' इस मन्त्रसे धारण कर ले।

कात्यायनसूत्रसे मिलती-जुलती ही विधि अन्य गृह्य-सूत्रोंमें भी मिलती है। महर्षि देवल आदि स्मृतिकारोंने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। आजकल मिलोंमें कता हुआ सूत आसानीसे मिल जाता है, इसलिये घरोंमें सूतकी कताई बंद हो गयी। ऐसी हालतमें जो हाथका सूत न ला सकें वे मिलका सूत लेकर विधिपूर्वक यज्ञोपवीत बना सकते हैं। पर बन सके तो हाथका सूत ही काममें लाना चाहिये। 'ॐ भूः' इस मन्त्रसे विधिका श्रीगणेश होता है। ब्रह्मग्रन्थि लगानेतक निर्माणविधि समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् उपाकर्मपद्धतिके अनुसार देव-ऋषि-पूजन सम्पन्न होता है। पूजन करके यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि शास्त्रोंमें स्त्रियोंको भी यज्ञोपवीत-निर्माणका अधिकार दिया गया है। परंतु उपर्युक्त विधिसे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियोंका सम्बन्ध सूतकी कताई मात्रसे ही है। उन्हें मन्त्रोच्चारणपूर्वक सविधि यज्ञोपवीत बनानेका अधिकार नहीं है। बाजारमें जो यज्ञोपवीत मिलते हैं वे प्रायः मिलके तिहरे बटे हुए सूतसे सीधे तैयार

किये जाते हैं। बहुत-से लोग ९६ आवृत्ति हाथपर न करके केवल एक मापसे सूत काट लेते हैं और यज्ञोपवीत बना लेते हैं, समस्त विधियोंके अनुसरणकी तो बात बहुत दूर रह जाती है। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको चाहिये कि सविधि बने हुए यज्ञोपवीत ही धारण करें। कहींसे सस्ता धागा लेकर गलेमें डाल लेना उचित नहीं।

आजकल यज्ञोपवीतके परिमाणके विषयमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता, किंतु शास्त्र परिमाणपर भी बड़ा बल देते हैं। गोभिलीय गृह्यकर्म-प्रकाशिकामें लिखा है 'न नाभेरूर्ध्वं नाधः' अर्थात् यज्ञोपवीत न तो नाभिसे ऊपर रहे, न नीचे। महर्षि कात्यायन कहते हैं—

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥

'पीठ और नाभिपर होता हुआ जो यज्ञोपवीत कटितक चला जाता है वही धारण करने योग्य है। न इससे अधिक लम्बा होना चाहिये और न छोटा। गृह्यसूत्रकारोंमें महर्षि कात्यायनकी वाणीको विशेष आदर दिया जाता है। इसीलिये अन्यान्य सूत्रकार भी उनकी वाणीको उद्धृत करते रहते हैं। पूरे यज्ञोपवीतकी पहचान यह है कि आसन लगाकर बैठ जानेसे वह जमीनको नहीं छूता, एक अंगुल जमीनसे ऊँचा ही रह जाता है। बहुत लंबा यज्ञोपवीत पहनना शास्त्रकी मर्यादासे बाहर है।

यज्ञोपवीतका निर्माण अपने हाथसे किया जाय तो सर्वोत्तम है। ऐसा न हो सके तो अपने किसी विश्वस्त व्यक्तिके द्वारा हाथका विधिपूर्वक बना हुआ यज्ञोपवीत पहन सकते हैं। यज्ञोपवीत और गायत्री-मन्त्रमें अभिन्न सम्बन्ध है। अतः यहाँ गायत्री-मन्त्रके सम्बन्धमें दो-चार शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं होगा, बल्कि पाठकोंको गायत्री-जपके लिये उससे प्रोत्साहन ही मिलेगा। पद्मपुराण स्वर्गखण्ड (अ० ४३। १४२ तथा अ० ५३। ५८) में लिखा है—

चतुर्वेदाश्च गायत्री पुरा वै तुलिता मया।
चतुर्वेदात् परा गुर्वी गायत्री मोक्षदा स्मृता॥
गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जप्यमेतद्विज्ञाय मुच्यते॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि 'चारों वेदों तथा गायत्रीको मैंने तुलापर तोला तो गायत्री चारों वेदोंसे बहुत अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित हुई। अतः गायत्री मोक्षदा नामसे विख्यात हुई। गायत्री वेदोंकी जननी है। गायत्री तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली है। गायत्रीसे श्रेष्ठ कुछ भी जपनेयोग्य नहीं है, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है वह मुक्त हो जाता है।'

भगवान् मनु भी कहते हैं—

सावित्र्यास्तु परं नास्ति ।
(मनु० २। ८३)

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
(मनु० २। ७९)

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(मनु० २। ८२)

अर्थात् 'गायत्रीसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।' 'जो द्विज गाँवसे बाहर एकान्तमें प्रणव व्याहृतियों-सहित गायत्री-मन्त्रको प्रतिदिन एक सहस्र बार जपता है वह बड़े-से-बड़े पापसे भी एक मासमें उसी प्रकार छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे अलग हो जाता है।' 'जो सावधानीके साथ तीन वर्षतक प्रतिदिन प्रणव व्याहृतिसहित गायत्रीका जाप करता है वह वायुकी भाँति यथेच्छ गति, आकाशकी भाँति निर्लिप्तता पाता है और परब्रह्मकी उपलब्धि करता है।'

गायत्रीकी महिमासे वेद, पुराण, स्मृति आदि सभी शास्त्र भरे हैं। श्रीभगवान्‌ने तो गीतामें 'गायत्री छन्दसामहम्' गायत्रीको अपना स्वरूप बतलाकर उसकी महत्ता और भी बढ़ा दी है। वास्तवमें गायत्री-मन्त्रकी महिमा अनिर्वचनीय है। जो इसे जपता है, वही इसके प्रभावको जान पाता है।

उपनयन-संस्कार, यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र) और गायत्रीके सम्बन्धमें संक्षेपमें जो कुछ निवेदन किया गया है उसपर यदि पाठक ध्यान देंगे और मन्त्रविधिपूर्वक बनाये हुए यज्ञोपवीत-को धारण करके गायत्री-मन्त्रका जप करेंगे तो उनकी बड़ी कृपा होगी।*

---

* जिनको शुद्ध यज्ञोपवीत चाहिये, वे छः पैसे जोड़े कीमतपर 'गोविन्दभवन-कार्यालय' ३० बाँसतल्ला गली, कलकत्तासे मँगवा सकते हैं। वहाँ शुद्ध यज्ञोपवीत बनवाकर बेचनेकी कुछ व्यवस्था की गयी है।

जाति जन्मसे है या कर्मसे ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

वस्तुतः देखा जाय तो यह प्रश्न बनता ही नहीं। जाति जन्मसे है, यह कोई कह ही नहीं सकता। हमारे शास्त्र तो जातिको कर्मानुसार प्रतिपादन करते हैं। आजकल कर्मका रहस्य—कर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंको लोग समझते नहीं और इसीलिये जन्मसे जाति देखकर वे असमंजसमें पड़ जाते हैं। जातिका निर्णय होता है कर्मसे, परंतु उसकी अभिव्यक्ति होती है जन्मसे।

अब कुछ भी आगे विचार करनेके पहले 'जाति' शब्दके विविध अर्थोंको समझ लेना चाहिये। जातिका एक अर्थ 'वर्ण' भी होता है। जैसे ब्राह्मणादि चार वर्ण हैं, उन्हींको कभी-कभी चार जाति कहते हैं। जातिका दूसरा अर्थ योनि भी होता है। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इस प्रकार चार मुख्य योनियाँ हैं। पशुयोनिमें या पक्षीयोनिमें, कीट-पतङ्गादि योनिमें या वृक्ष-पाषाण आदि योनियोंमें जन्म हो तो उस समय भी योनिके बदले जाति शब्दका प्रयोग होता है।

जातिका तीसरा अर्थ एक ही वर्गके प्राणीमें भिन्नता दिखलानेवाला होता है। जैसे नरजाति या नारीजाति। अन्यान्य प्राणी-वर्गमें वह 'नर' और 'मादा' रूपमें पुकारी जाती है और मनुष्यमें 'पुरुष' और 'स्त्री' नामसे पुकारी जाती है।

इस प्रकार प्रत्येक अर्थमें जातिका निर्णय कर्मके अनुसार ही होता है और व्यवहार यदि जातीय व्यवहारसे भिन्न हो तो भी वह शरीर जबतक वह है तबतक उस जातिके नामसे ही पहचाना जाता है। भरत राजाको हरिणका अवतार लेना पड़ा, उस समय वे हरिणके शरीरमें भी तपस्वी-जैसा जीवन व्यतीत करते थे। तथापि वे हरिणरूपमें ही पहचाने जाते थे। गुरु द्रोणाचार्य और परशुराम जन्मसे ब्राह्मण थे, परंतु कर्म उन्होंने क्षत्रियोचित किये, तथापि उनकी गिनती ब्राह्मणमें ही हुई। अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई-जैसी अनेक वीराङ्गनाओंने पुरुषोचित युद्ध किये, तथापि उनकी गणना स्त्रीरूपमें ही हुई। कुम्हार, जुलाहे तथा अन्त्यज भक्तोंने ब्राह्मणोचित व्यवहार किये, तथापि उनकी गणना उनकी जातिमें ही हुई। वे अपने इस जन्मके कर्मोंसे ब्राह्मण नहीं कहलाये। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातिका निर्णय होता है कर्मसे ही—पूर्वजन्मके कर्मसे ही, परंतु उसकी अभिव्यक्ति होती है जन्मके ही द्वारा, क्योंकि इसका अन्य कोई उपाय ही नहीं है। पीपल और बड़की दो छोटी डालियाँ पत्ते बिना पड़ी हों तो उनको देखकर कौन पीपलकी है और कौन बड़की डाली है, यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उनको यदि रोप दें और उनमेंसे अङ्कुर निकले तो पीपल और बड़का भेद प्रत्यक्ष दिखायी पड़ेगा। इसलिये जातिकी अभिव्यक्ति जन्मसे ही होती है, दूसरे किसी प्रकारसे यह सम्भव नहीं है। इसीलिये जबतक जाति शरीर है, तबतक उसको उसी जातिका समझना चाहिये, वर्तमान जन्मके कर्म भले ही भिन्न प्रकारके हों।

कर्मका अटल सिद्धान्त यह है कि—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

अर्थात् करोड़ों कल्प बीत जानेपर भी कर्म, अपना फल दिये बिना, नाशको प्राप्त नहीं होता। इससे यह प्रतिफलित होता है कि जिन कर्मोंका फल मनुष्य वर्तमान जन्ममें नहीं भोगता है, उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये मनुष्यको अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं। इस प्रकार बीजवृक्षन्यायसे, अर्थात् वृक्षसे बीज होते हैं और बीजसे फिर अनेक वृक्ष उत्पन्न होते हैं—उसी प्रकार कर्म भोगनेके लिये शरीर धारण करने पड़ते हैं और शरीरोंसे फिर असंख्य कर्म होते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है।

गीता (अध्याय ४ श्लोक १३) में भगवान्ने कहा है कि गुण और कर्मको ध्यानमें रखकर मैंने मानव-समाजको मुख्य चार भागोंमें बाँटा है, अर्थात् यह चार विभागवाली समाज-रचना मैंने ही की है। प्रकृतिके गुण हैं तीन—सत्त्व, रजस् और तमस्। इनके स्वभावका वर्णन भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायमें किया है। वर्णव्यवस्थामें, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसको ब्राह्मण कहा गया है। जिसमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी प्रधानता हो उसको क्षत्रिय कहते हैं। जिसमें तमोगुणमिश्रित रजोगुणकी प्रधानता हो उसे वैश्य कहा है और जिसमें तमोगुणकी प्रधानता हो उसको शूद्र कहा गया है।

अब गुण और कर्मका सम्बन्ध देखिये। जब सत्त्वगुण-

की प्रधानता होती है, तब सात्त्विक कर्म—ईश्वरभजन, परोपकार आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। जब रजोगुण जोर पकड़ता है, तब लोभवृत्ति बढ़ती है और उसको तृप्त करनेके लिये विविध प्रवृत्तियोंका आरम्भ होता है। मनचाहा फल न मिलनेपर चित्तमें अशान्ति रहती है और तृष्णा अधिक जोर पकड़ती है। जब तमोगुण बढ़ता है, तब निद्रा, आलस्य और प्रमादमें, अज्ञानी पशु-जैसा जीवन व्यतीत होता है।

ये गुण सब समय एक-से नहीं रहते। सत्त्वगुण बढ़ता है तो वह रज और तमको दबा देता है; रजोगुण बढ़ता है तब सत्त्व और तमको दबाता है; और जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह सत्त्व और रजको दबाता है। रातमें निद्राके समय इसका अनुभव प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। शारीरिक तथा मानसिक, दोनों प्रवृत्तियाँ जब बंद हो जाती हैं, तब निद्रा आती है। इसका कारण यह है कि निद्रा तमोगुणका स्वभाव है, वह जोर पकड़कर सत्त्व-रजको दबाता है, तभी निद्रा आती है।

गुण तो अपने अनुरूप कर्म करनेकी प्रेरणा देता है, परंतु उसके अनुसार यदि कर्म न हो तो फिर कर्मके अनुसार गुण जोर पकड़ता है और दूसरे गुणोंको दबा देता है। इसीको रोकनेके लिये चारों वर्णोंके लिये कुछ पृथक्-पृथक् अमुक-अमुक प्रकारके कर्म करनेका विधान किया गया है। इसीलिये प्रत्येक वर्ण अपने लिये विहित कर्म ही करता है, दूसरे वर्णके कर्म उससे नहीं कराये जाते। ऐसा होनेपर ही गुण और कर्मका मेल होता है। गुण कर्मके लिये प्रेरणा देता रहता है और तदनुसार कर्म करनेसे गुण टिका रहता है—दूसरे गुण उसको दबा नहीं सकते।

इस वर्ण-धर्मका वर्णन गीताके १८ वें अध्यायमें ४२ से ४४ वें श्लोकतक किया गया है। ब्राह्मणके लिये मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये मुख्य कर्म हैं। क्षत्रियके लिये वीरता, तेज, धीरज, चतुराई, निर्भयता (युद्धमें पीछे पैर न रखना—परंतु सामने छाती करके लड़ना), दान देना और पीड़ित तथा आश्रितको रक्षण प्रदान करना—ये मुख्य कर्म हैं। वैश्यके लिये खेती, व्यापार और पशुपालन तथा शूद्रके लिये इन तीनों वर्णोंको उनके कार्यमें सहायता प्रदान करना—ये मुख्य कर्म हैं।

इस प्रकार जबतक प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्मका पालन करते रहे, तबतक यह व्यवस्था सुरक्षित रही। विदेशियोंके आनेके बाद, वे लोग गुण-कर्म तथा जन्म-जन्मान्तरके विषयमें समझ न रखनेके कारण इस व्यवस्थाको वहम बताने लगे और उन्होंने हमको यह सिखलाया कि इन सब बखेड़ोंको ब्राह्मणोंने अपना वर्चस्व बनाये रखनेके लिये व्यवस्था की है। हमलोग भी उस समय पूरे-पूरे निर्माल्य बन गये थे, इससे उनके मोह-जालमें फँस गये और शास्त्रोंके ऊपरसे हमारा विश्वास उठ गया। फल यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। इसीसे आजकल लोग अपनी इच्छाके अनुसार कर्म करते जा रहे हैं, इतनेपर भी आनुवंशिक संस्कार आज भी देखनेमें आते हैं।

उदाहरणके लिये एक कुम्हार और एक ब्राह्मणके लड़केको पढ़नेके लिये बैठाइये और यह देखिये कि कौन जल्दी-जल्दी प्रगति करता है। तो यह प्रकट हो जायगा कि ब्राह्मणका लड़का अधिक कुशलतासे विद्योपार्जन कर सकता है। इसी प्रकार ऐसे दो लड़कोंको यदि कुम्हारका काम करनेके लिये बैठाइये तो देखेंगे कि कुम्हारका लड़का जल्दी काम सीखता है। इसका कारण यह है कि दोनों लड़कोंमें अपनी-अपनी जातिके आनुवंशिक संस्कार मौजूद हैं। घोड़े और कुत्तेमें आनुवंशिक संस्कारकी बात विदेशी लोग स्वीकार करते हैं; और वैसा प्राणी प्राप्त करनेमें गौरव भी मानते हैं, परंतु मनुष्यमें इस बातको स्वीकार करनेके लिये वे तैयार नहीं हैं; क्योंकि उसमें उनको व्यक्तिस्वातन्त्र्यपर आघात लगता दीख पड़ता है।

छान्दोग्योपनिषद्में भी कर्मके अनुसार जातिमें जन्म होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

मनुष्योंकी मृत्यु होनेपर, जिनका आचरण पहले विशुद्ध—पवित्र होता है, वे तत्काल उत्तम योनिमें शरीर धारण करते हैं। वे ब्राह्मणशरीर या क्षत्रियशरीर अथवा वैश्यशरीर धारण करते हैं। इसी प्रकार जिन मनुष्योंका आचरण पापमय होता है, वे मनुष्य भी तत्काल निकृष्ट योनिमें शरीर धारण करते हैं, वे कुत्तेका या सूअरका या चाण्डालका शरीर धारण करते हैं। सारांश यह कि इस जन्ममें जिसकी जैसी रहनी-करनी होती है उसके अनुरूप जातिमें ही उसका जन्म होता है।

मानवसमाजमें आज अधिकसंख्यक लोग पुनर्जन्मको

नहीं मानते और इस कारण उनको कर्मका रहस्य समझमें नहीं आता। इसी कारण उनकी समझमें नहीं आता कि ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेनेवाला क्यों ब्राह्मण कहलाता है। इसीसे वे ऐसा कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसे कर्म करता है उसीके अनुसार जाति मानी जानी चाहिये। गत जन्मकी बात वे नहीं समझते और इसीलिये मानते भी नहीं।

अब यदि इस जन्मके कर्मोंके अनुसार जाति मानें तो उसमें अव्यवस्था-दोष आ जायगा। हममेंसे प्रत्येकके अनुभव-की बात है कि मनुष्य सबेरेसे शामतक कितने ही काम ब्राह्मणोचित करता है, कितने ही काम पशु-जैसे करता है और कई काम तो उससे भी अधम कोटिके करता है। अब यहाँ उस मनुष्यको ब्राह्मण गिनें, पशु गिनें, पिशाच गिनें अथवा क्षण-क्षण उसकी जाति बदला करें ? इसलिये इस जन्मके कर्मसे जातिका निश्चय हो सकता ही नहीं। गत जन्मके सारे कर्म नियन्ताके सामने होते हैं और उनमें जिस जातिके कर्मोंकी प्रधानता होती है, उसका उस जातिमें जन्म होना उचित ही है।

इस बातको एक लौकिक दृष्टान्तसे समझिये। एक विद्यार्थी परीक्षामें बैठा है। पूछे गये प्रश्नोंमेंसे जितना उसको आता था उसके अनुसार उसने उत्तर लिखे। परीक्षक सारे प्रश्नोंकी ठीक-ठीक जाँच करता है और योग्यताके अनुसार प्रत्येक उत्तरपर अङ्क देता है। सब अङ्कोंको जोड़ा जाता है, फिर उसीके अनुसार वह विद्यार्थी प्रथमवर्ग, द्वितीयवर्ग अथवा तृतीयवर्गमें उत्तीर्ण होता है, अथवा वह उत्तीर्ण नहीं हुआ—यह परिणाम प्रकट किया जाता है।

जैसे समस्त उत्तर-पत्रोंकी जाँच किये बिना परीक्षक परिणाम नहीं दे सकता, उसी प्रकार नियन्ता भी प्रत्येक व्यक्तिके समस्त जीवनकी पूरी जाँच करनेके बाद ही उसको जातिविशेषमें जन्म देता है, इस प्रकार जातिमें जन्म मिलता है कर्मसे ही। परंतु इस जन्मके कर्मोंसे नहीं, बल्कि गत जन्मके कर्मोंसे।

इस बातके समर्थनमें मनु महाराज कहते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।' कहनेका तात्पर्य यह कि केवल ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ब्राह्मणत्व टिका नहीं रहता। उसके लिये तो जीवका षोडश (१६) संस्कारयुक्त जीवन होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणके घर जन्म लेनेपर इस जन्ममें तो वह ब्राह्मण कहलाता है; क्योंकि यह उसके गत जन्मके कर्मोंका फल है और वह उसे मिलना ही चाहिये। परंतु इस जन्ममें यदि उसके ब्राह्मणोचित कर्म नहीं होंगे तो अगले जन्ममें उसको ब्राह्मणका शरीर नहीं मिलेगा। परंतु कर्मके योगके अनुसार ही उसको योग्य शरीर प्राप्त होगा।

इसी प्रकारका दृष्टान्त सुख-दुःखका है। जब अनाचार करते हुए मनुष्य समृद्ध और सुखी दीख पड़ते हैं, तब सदाचारी गरीब मनुष्य कलप उठते हैं और कहते हैं कि ईश्वरके घर न्याय नहीं है। दुःखके मारे बुद्धि व्यग्र हो जानेके कारण वे इस सीधी-सादी बातको भी नहीं समझ पाते कि वे आज जो सुख भोग रहे हैं, यह उनके गत जन्मों-के पुण्यका फल है, इस जन्मके कर्मोंका फल तो उनको कर्मविपाकका समय आनेपर भावी जीवनमें मिलेगा। इसी प्रकार सदाचारी मनुष्यके वर्तमान जीवनका दुःख भी उसके गत जन्मोंके पापका फल है, इस जन्मके सुकृतका फल तो भावी जन्ममें मिलेगा। ईश्वरके नियममें अन्याय कभी होता ही नहीं। आमकी गुठलीमेंसे कभी बबूल नहीं उगता और बबूलके बीजमेंसे कभी आम नहीं फलता। इसी प्रकार शुभ कर्मका फल दुःख होता ही नहीं और पापकर्मका फल सुख होता ही नहीं। यही सिद्धान्त जन्मका भी समझना चाहिये—'जैसी करनी पार उतरनी'।

योगदर्शनमें भी यह स्पष्ट बतलाया है कि कर्मसे ही जातिमें जन्म होता है। 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेद-नीयः'—भाव यह है कि जो कर्म भोगे बिना संचित रहते हैं वे ही वर्तमान शरीर और भावी शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। अब जन्म कैसे होता है, यह बतलाते हुए अगला सूत्र कहता है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।' अर्थात् जबतक बिना भोगे हुए कर्म संचित हैं, तबतक जीवको अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। उसकी व्यवस्था इस प्रकार है कि जो कर्म-संस्कार फल देनेके लिये तैयार हुए रहते हैं उनको अलग निकाल लिया जाता है। तत्पश्चात् उनके अनुसार योनि निश्चित होती है और यदि मनुष्य-योनिमें जन्म होनेवाला होता है तो यह निश्चय किया जाता है कि किस वर्णमें जन्म हो। अब उस फलको भोगनेमें कितना समय लगेगा, इसका निर्णय करके आयुका निर्माण होता है। इस प्रकार जब जीव एक मनुष्यशरीर छोड़ता है, तब उसकी जाति (व्यापक अर्थमें), आयुकी मर्यादा तथा सुख-दुःखका भोग निश्चय होता है। इसको आगामी

शरीरका प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रकार योगदर्शन भी कर्मसे जातिका सिद्धान्त बताता है। परंतु वे कर्म वर्तमान जन्मके नहीं, बल्कि गत जन्मोंके होते हैं।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि सम्पूर्ण १०० वर्षकी आयु पूरी होनेपर दूसरा शरीर मिलता है और उसमें यदि इस और गत जन्मोंके कर्मोंका फल भोगना पड़ता हो तो वह किस कामका ? हमलोगोंको तो १०० वर्षका बीच-का समय बहुत लंबा लगता है, परंतु सृष्टिकी रचना करने-वाले ब्रह्माके लिये तो यह समय एक पलमात्र भी नहीं है। शास्त्रीय गणनाके अनुसार ब्रह्माका एक दिन हमारे ४३२०००००० वर्ष जितना है। इस हिसाबसे ब्रह्माका एक सेकंडका समय हमारे हजारों वर्षोंसे भी बड़ा हो जाता है। इस बातको बतलाते हुए एक प्रसङ्गमें विष्णुपुराणमें एक इतिहास बताया गया है। सत्ययुगकी बात है। शर्याति-वंशके राजा रैवतको अपनी पुत्रीके लिये कोई योग्य वर नहीं मिल रहा था। इसलिये वे अपनी कन्या रेवतीको साथ लेकर ब्रह्माजीसे सलाह लेने ब्रह्मलोकमें गये। उस समय वहाँ सामगान हो रहा था, इसलिये वे कुछ बोल न सके। गान समाप्त होनेके बाद राजाने अपनी बात ब्रह्माजीसे कही। उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'तुम यहाँ जितनी देरतक रहे इतनी देरमें तो पृथ्वीपर सत्ययुग और त्रेता—दो युग बीत गये और अब द्वापर भी पूरा होनेवाला है। श्रीकृष्णका अवतार हो गया है, तुम अपनी पुत्री बलदेवजीको ब्याह दो।'

इस प्रकार समयका माप सापेक्ष है और सभी लोकोंमें वह समान नहीं होता। देश और काल दोनों सापेक्ष हैं, इस बातको योगवाशिष्ठमें बहुत युक्तिपूर्वक समझाया गया है, परंतु हमारे नवशिक्षित विद्वान् इसको नहीं मानते। अब आइन्स्टाइन जब यही बात कहते हैं, तब मान लेते हैं। ऐसी हमारी मनोदशा है।

इस प्रकार एक जन्मके कर्म दूसरे जन्ममें भोगे जायँ, इसमें कोई त्रुटि या दोष नहीं है, बल्कि यह सुविधाजनक बात है और इसमें किसीके प्रति कोई अन्याय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि सारे जीवनके कर्मोंका तलपट निकालने-के बाद ही नया खाता शुरू होता है।

कर्मका सिद्धान्त न समझनेसे एक और गड़बड़ी पैदा होती है, उसका भी उल्लेख यहाँ कर लें तो अप्रासङ्गिक न होगा। कुछ 'मत' यह कहते हैं कि 'मनुष्यका शरीर जब एक बार मिल गया तो फिर निकृष्ट योनिमें जानेका भय रहता ही नहीं।' पर यह बात सत्य नहीं है। साथ ही, यह कर्मके सिद्धान्तसे भी विरुद्ध है। मनुष्य-शरीरसे निकृष्ट शरीर धारण करनेके अनेकों उदाहरण पुराणोंमें भरे पड़े हैं। ऊपर छान्दोग्योपनिषद्का जो अवतरण दिया गया है उससे भी स्पष्ट है कि मनुष्यको कुत्ते और सूअरकी निकृष्ट योनिमें जन्म लेना पड़ता है। राजा नहुषने अपनी पालकी ढोनेके लिये ब्राह्मणोंको लगाया। ब्राह्मण धीरे-धीरे चलते थे, इसलिये उसने क्रोधमें आकर जल्दी-जल्दी पैर बढ़ानेके लिये कहा। ब्राह्मणोंने शाप दे दिया और तत्काल राजा नहुष सर्पके शरीरको प्राप्त हो गये। राजा नृगने भूलसे एक ही गाय दो बार दानमें दे दी थी, इस अपराधके कारण उसको गिरगिटका जन्म लेना पड़ा। गजेन्द्रमोक्षके आख्यानमें गजेन्द्र पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नामक पाण्डुदेशका राजा था और अगस्त्य ऋषिके शापसे हाथी हो गया था। और ग्राह हूहू नामक गन्धर्व था, वह भी देवल ऋषिके शापसे ग्राहकी योनिमें आया था। इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, इसलिये यह कहना कि एक बार मनुष्यशरीर मिलनेके बाद, वह चाहे जैसा आचरण करे तथापि, अधोगति न होगी, ठीक नहीं है। जब कर्मके अनुसार ही जन्म होता है, तब फिर नीच कर्म करनेवालेका नीची योनिमें जन्म क्यों न हो।

इस महत्त्वपूर्ण बातको एक युक्तिसे जाँचिये। मनुष्यको यदि एक बार विश्वास हो जाय कि अब मैं इससे नीचे कभी जा ही नहीं सकता, तब वह चाहे जैसे अकर्म करनेमें भी नहीं हिचकिचायेगा परंतु यदि उसको विश्वास हो कि कर्मके अनुसार ही जन्म मिलता है तो इससे मनुष्यको शुभकर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है और वह अशुभसे दूर रहनेका प्रयत्न करता है।

मान लीजिये एक मनुष्यने खून किया। अदालतमें उसके ऊपर मुकदमा चला। प्रमाण न मिलनेसे वह मनुष्य निर्दोष छूट गया। इससे 'वह मनुष्य खून नहीं कर सकता' ऐसा प्रमाणपत्र उसे बिना माँगे मिल गया। इस प्रमाण-पत्रके जोरपर उसने पुनः भरे बाजारमें खून कर डाला। फिर उसके ऊपर अदालतमें मुकदमा चला। उसने कहा—'मैं तो खून कर सकता ही नहीं, यह प्रमाणपत्र मुझे इसी अदालतसे मिल चुका है, इससे मुझपर मुकदमा चल ही नहीं सकता।' परंतु क्या अदालत उसकी इस बातको

मान लेगी ? वह तो सबूतके अनुसार निर्णय करेगी और यदि प्राणदण्डकी सजा न देगी, तो देश-निकालेकी ही सजा देगी और कहेगी कि प्रमाणपत्रका दुरुपयोग करनेवालोंकी हमारे राज्यमें आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार पूर्वजन्ममें किये हुए अनेक पुण्योंके प्रतापसे मानव-शरीर तो मिला। पर उसका उपयोग ईश्वरप्राप्तिके लिये न करके विषय-सेवनमें ही किया और उसमें भी न्याय-नीतिका ध्यान न रक्खा और यथेच्छाचार किया तो कह सकते हैं कि उसने भी प्रमाणपत्रका दुरुपयोग ही किया और इसकी सजा भोगे बिना काम नहीं चल सकता। सजामें नरक-यन्त्रणा अथवा निकृष्ट योनिमें जन्म—जो भी मिले, उसे भोगना ही पड़ेगा।

एक संत बैठे थे। उनके सामने दो-चार जिज्ञासु बैठे थे। सात-आठ चींटोंकी कतार जाती हुई देखकर वे संत बोल उठे देखो, देखो! ये चींटे कैसे चले जा रहे हैं? ये सभी एक बार नहीं, अनेक बार इन्द्रके सिंहासनपर बैठ चुके हैं। इतनेपर भी इनकी भोग-वासना नहीं छूटती, इससे ये भवचक्रमें भ्रमा करते हैं। इन्द्रका पद भोगनेके बाद यदि चींटेका जन्म मिल सकता है तो फिर मनुष्य-शरीरसे नीची योनिमें जन्म हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

इसलिये यह सिद्धान्त सर्वथा असत्य है और मनुष्यको उलटे मार्गपर ले जानेवाला है। इसलिये इसको मानना नहीं चाहिये।

अब, वर्णव्यवस्थाको अपने यहाँ इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है, इसपर विचारकर निबन्ध समाप्त किया जायगा। इसका मुख्य कारण यह है कि हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार प्रकारके पुरुषार्थ मानते हैं और दूसरे लोग केवल अर्थ-कामरूप पुरुषार्थको ही मानते हैं। 'अर्थ-काम' का हमारा अर्थ 'शरीर-निर्वाहका साधन-मात्र' है और वे लोग इसका अर्थ 'विपुल भोगसामग्री' करते हैं। इससे अपने यहाँ 'संतोष ही सुख है'—ऐसी भावना है और वे लोग 'असंतोषको ही प्रगतिके लिये आवश्यक' मानते हैं।

साथ ही 'अर्थ-कामके ऊपर धर्मका नियन्त्रण होना चाहिये' ऐसा हम मानते हैं, क्योंकि उसके बिना मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार मोक्षकी सिद्धिके लिये धर्मपरायण जीवन बिताना अपने यहाँ आवश्यक माना जाता है।

दूसरे प्रकारसे देखिये तो वर्णव्यवस्था उत्तम ढंगकी समाज-रचना है, क्योंकि इसमें आनुवंशिक शिक्षणके द्वारा विविध गुणोंका परिपोषण करनेकी अनुपम योजना है। प्रत्येक वर्णके लिये विहित धर्म बनाये गये; उन-उन धर्मोंका पोषण करता हुआ प्रत्येक वर्ण अपनी उन्नति करता है और इससे समाजमें संघर्षके लिये कहीं अवकाश ही नहीं रहता। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्णको केवल पठन-पाठन, यजन-याजन आदि ही करना चाहिये। उनको संग्रह करना ही नहीं चाहिये। शूद्रका काम सेवा करना होनेके कारण उसे तीनों वर्णोंके काममें मदद करनी चाहिये। इसलिये उसको भी अपरिग्रही होना चाहिये। इस प्रकार समाजका आधा भाग जब अकिञ्चन रहता है, तब धनके लिये खींच-तान या संघर्ष नहीं होता। फिर क्षत्रिय राजा आदिके पास धन संचित होता तब वे यज्ञ-यागादि करनेमें उसका उपयोग करते और शेष बचे हुएको प्रजामें लुटा देते। वैश्यके पास धन इकट्ठा हो तो वह भी लोक-हितके कार्योंमें लगा दे, इकट्ठा करे ही नहीं। ऐसा आदर्श है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था एक आदर्श समाज-रचना है और इससे मानवसमाजका कल्याण हुए बिना नहीं रहता। सारा जगत् यदि इस नीतिसे समाजको संगठित करे तो जगत्भरमें शान्ति स्थापन होते देर न लगे।

परंतु यह आशा दुराशामात्र है। अपने यहाँ यह व्यवस्था है, इसीको मिटा देनेका प्रयत्न चारों ओरसे हो रहा है, तब फिर जहाँ यह व्यवस्था नहीं है, वहाँ ऐसी व्यवस्था हो, यह कैसे सम्भव है? विदेशी लोगोंको जन्म-जन्मान्तरका तत्त्व न समझनेके कारण वर्णव्यवस्थामें केवल अन्याय ही दिखायी दिया और इस कारण उन्होंने यही व्यक्त किया कि यह व्यवस्था तो मनुष्यको गुलाम बनानेके लिये ही है। ब्राह्मणोंने अपनी सत्ता जमाये रखनेके लिये यह बखेड़ा बना रक्खा है। प्रत्येक मनुष्यको अपने इच्छानुसार धंधा करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस प्रकार, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी आड़में उन्होंने वर्णव्यवस्थाकी खूब निन्दा की और उनके भौतिक आविष्कारोंसे प्रभावित होकर हमने उनकी बात मान ली!

परिणामस्वरूप, वर्णव्यवस्था टूटती जा रही है और इससे समाजमें संघर्ष पराकाष्ठाको पहुँच गया है। जबतक प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धंधेमें गौरवका अनुभव करता था

तबतक रोटीके लिये छीना-झपटी बिल्कुल नहीं थी। परंतु आजकल व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके नारे लगाकर प्रत्येक मनुष्य अक्षरज्ञान प्राप्त करने लगा। मेकॉलेकी शिक्षामें गुलामी करनेके सिवा दूसरी कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। फलतः प्रत्येक मनुष्यको नौकरी चाहिये और नौकरी न मिलनेपर भुखमरीका सामना करना पड़ता है। दिनोंदिन स्थिति बिगड़ती जा रही है, परंतु किसीकी आँखें नहीं खुल रही हैं। अक्षर-शिक्षाको तिलाञ्जलि देनी चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको अपने वर्णके अनुसार धंधेमें लग जाना चाहिये। ऐसा करेंगे, तभी इस भुखमरीका अन्त आवेगा। हमारे लिये दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। प्रभु सबको सन्मति प्रदान करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भक्त-गाथा

[भक्त मालती और सदाशिव]

दक्षिणमें कावेरीके तटपर एक छोटे गाँवमें ब्राह्मण-दम्पति रहते थे। ब्राह्मणका नाम था सदाशिव और पत्नीका नाम था मालती। दोनों बड़े ही साधु स्वभावके थे। दोनोंमें भगवान्‌की भक्ति थी और बड़ी सादगीके साथ रहकर दोनों अपना पवित्र जीवन बिताते थे। न उन्हें धनकी चाह थी, न पुत्रकी इच्छा थी, न यश-कीर्तिकी और न मान-सम्मानकी आकाङ्क्षा थी। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव-जीवनका उद्देश्य संसारके भोगोंमें रमना नहीं है वरं समस्त भोगोंसे उपरत होकर परमात्माके स्वरूपको जानना और प्राप्त करना है। सदाशिवके पिता बहुत बड़े विद्वान् थे। सदाशिवजीने पितासे इस बहुमूल्य निधिको प्राप्त किया था। उद्भट विद्वान् होनेपर भी इनमें आदर्श विनय थी। विद्याका अभिमान इन्हें छूतक नहीं गया था। वे अपनी विद्याका उपयोग भगवान्‌की रसमयी लीला-कथाके अध्ययन और अनुशीलनमें ही करते थे। प्रतिदिन संध्याके समय वे अपनी धर्मपत्नीको श्रीमद्भागवतकी ललित तथा रसमयी व्याख्या सुनाया करते थे। उन्होंने एक दिन दशमस्कन्धकी भगवान्‌की बाल-लीला सुनाते हुए परम भाग्यवती श्रीयशोदाजीके मधुरतम वात्सल्य रसका विलक्षण वर्णन किया। उन्होंने सुनाया—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥
(श्रीमद्भा० १०।८।४५)

'ऋक्, साम, यजुर्वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तगण—सदा-सर्वदा जिनकी महिमा गाया करते हैं, उन्हीं भगवान्‌को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं।'

इस श्लोककी और यशोदाजीके वात्सल्यकी मधुर व्याख्या सुनकर मालती देवीके निष्काम पवित्र मनमें एक मीठी-सी कामना उत्पन्न हो गयी। उसने मन-ही-मन कहा—'कहीं श्यामसुन्दर मेरी गोदमें खेलते, कहीं मैं भी उन्हें अपना पुत्र मानकर लाड़-प्यार करती।' कामनाका यह अङ्कुर क्रमशः बढ़ने लगा और विस्तृत होकर इसने मालतीके मनको चारों ओरसे छा लिया। अब मालती दिन-रात इसी चिन्तामें, इसी दुर्लभ मनोरथके मननमें निमग्न रहने लगी। उसकी जीभपर सदा-सर्वदा श्यामसुन्दरका मधुर नाम नाचता रहता, मन दिन-रात श्यामसुन्दरको गोदमें खिलानेका मधुर चिन्तन करता रहता और बुद्धि सदा इसी विचारमें खोयी-सी रहती। एक दिन मालतीने अपने स्वामी पण्डित सदाशिवको अपनी मनोवाञ्छा सुनायी। सुनाते-सुनाते वह रोने लगी, सिसकियाँ भर गयीं। सदाशिवने मालतीके मनोरथको माना तो बहुत कठिन,

पर साथ ही श्यामसुन्दरके अहैतुकी स्नेह-सुधासे परिपूर्ण हृदयकी ओर जब उनका ध्यान गया; तब उन्हें आशा हो गयी और उन्होंने कहा—'साध्वी ! तुम बड़ी भाग्यवती हो जो तुम्हारे मनमें इस मनोरथका अङ्कुर बड़ा होकर इतना विस्तृत हो गया है। तुम कातर-कण्ठसे रो-रोकर एकान्तमें अपने श्यामसुन्दरको मनका मनोरथ सुनाओ, वे बड़े उदार हैं और उनके विशाल हृदयमें सदा-सर्वदा स्नेहका अथाह समुद्र लहराता रहता है, वे तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे और तुम्हारी यह महती सिद्धि मुझे भी धन्य कर देगी।'

मालतीको मानो साधनकी दीक्षा प्राप्त हो गयी और साथ ही उसे विश्वास भी हो गया कि भगवान् श्यामसुन्दर मेरे मनोरथको अवश्य पूर्ण करेंगे। वह अब प्रार्थना करने लगी। पहले प्रार्थना एक समय शुरू हुई, फिर बढ़ते-बढ़ते मालतीका जीवन प्रार्थनामय हो गया। वह दिन-रात प्रार्थनामें ही निमग्न रहने लगी। अब दूसरे किसी विषयके लिये उसके मनकी ओर झाँकनेकी भी गुंजाइश नहीं रह गयी।

मालती प्रेमावेशमें बेसुध हुई एक दिन प्रार्थना कर रही थी कि भगवान् उसके सामने प्रकट हो गये। भगवान्की दिव्य झाँकीको निरख-निरखकर मालती निहाल हो गयी। भगवान्का परम दिव्य नव-नीरद-नील श्याम वर्ण है। उससे दिव्य ज्योतिकी किरणें निकलकर चारों ओर मधुर आभाका विस्तार कर रही हैं। कटिदेशमें दिव्य स्वर्णवर्ण पीताम्बर धारण किये हुए हैं। सिरपर मयूरपिच्छका मुकुट है। गलेमें रत्नोंकी, मुक्ताओंकी और पाँच प्रकारके परम सुगन्धित पुष्पोंकी माला सुशोभित हैं। वैजयन्ती और गुंजामाला वक्षःस्थलपर विहार करती हुई अपनी निराली छटा दिखा रही हैं। भगवान्के कर्णयुगल कनेरके पीले-पीले पुष्पोंसे विभूषित हैं। भगवान्की विशाल सुकोमल भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंमें दिव्य कड़े सुशोभित हैं। श्यामसुन्दर अपनी विकट भ्रुकुटि, मुनियोंके मनको आकर्षित करनेवाली निराली नेत्रदृष्टि और मधुर मनोहर मुसकानसे सबके मनोंको बलात्कारसे हरण कर रहे हैं। कोमल करकमलमें मुरली सुशोभित है और उनका एक हाथ आशीर्वाद मुद्रासे मानो वरदान दे रहा है।

इस रूपछटाको देखकर मालतीको देहकी सुध-बुध नहीं रही। उसकी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं और वह एकटकी लगाये उनकी ओर देखती ही रह गयी। भगवान्ने मधुर-मधुर मुसकराते हुए बड़ी ही मधुर वाणीमें मालतीसे कहा—'मैया ! तुम्हारी स्नेह-डोरीसे खिंचा मैं तुम्हारे सामने आ गया हूँ। तुम मेरी माँ हो—प्यारी माँ हो। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। जगत्के विनाशी पुत्रोंमें लोगोंका मन लगा रहता है, वे उन्हींको पाने, पालने, पोसने और उन्हींका लाड़ लड़ानेके मूर्खताभरे मनोरथोंसे अपने मनको भरे रखते हैं, इससे मैं उनसे दूर रहता हूँ। तुम्हारी तथा तुम्हारे स्वामी सदाशिवकी भाँति जो संसारके तमाम भोगोंसे मुँह मोड़कर केवल मुझको ही चाहते हैं—वे जिस रूपमें मुझे पाना चाहते हैं, उसी रूपमें मैं उन्हें प्राप्त होता हूँ। उसी रूपमें मैं उन्हें सुख देकर और उन्हें सुखी देखकर परम प्रसन्न होता हूँ। वे मेरे होते हैं और मैं उनका। वे जो एक क्षण भी मुझे नहीं छोड़ना चाहते, एक क्षणके लिये भी वे अपने मनसे मुझको नहीं निकालते। बड़े-बड़े भोगोंके प्रलोभन तथा बड़े-से-बड़े दुःखोंके भयानक भय जिन्हें आधे क्षणके लिये भी मेरी मधुर स्मृतिसे वञ्चित नहीं कर सकते, उन मेरे प्यारे प्रेमी भक्तोंके हृदयमें मैं नित्य-निरन्तर वैसे ही बसता हूँ जैसे कमल-कोषमें मधुलोभी भ्रमर रहता है। भ्रमर तो कभी वहाँसे निकलता भी है, पर मैं तो एक बार हृदयमें प्रवेश कर जानेपर फिर कभी निकलता ही नहीं। केवल मनमें ही नहीं, मैं अपने उन भक्तोंके इच्छानुसार उनका पुत्र, मित्र, पिता, भाई, स्वामी, सेवक आदि बनकर उन्हें

सुख देता रहता हूँ और इसीमें मुझ नित्य आनन्दमयको भी महान् विलक्षण आनन्दकी अनुभूति होती है। देखो मालती! मैं प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हारी पूजाके समय— पूजा समाप्त होते ही आ जाया करूँगा और मध्याह्नका प्रसाद पाकर अन्तर्धान हो जाऊँगा। इतने समयतक तुम्हारी गोदमें खेलूँगा। तुम जैसा कुछ मेरा लाड़-प्यार करना चाहोगी, वैसा ही मैं स्वीकार करूँगा। तुम्हें जिस तरह सुख मिलेगा, मैं वही करूँगा। और इस लीलाका आनन्द केवल तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे पति तथा गुरु एवं मेरे भक्त सदाशिवको भी मिलेगा और अन्तमें तुम दोनों मेरे दिव्यधाममें जाकर मेरी नित्य सेवाका अधिकार प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। सदाशिव इस समय घरपर नहीं थे, अतः वे इस अपूर्व लाभसे वञ्चित रहे। मालतीका तो जीवन ही बदल गया। सच्चा मनोरथ, उत्कट अनिवार्य एकान्त इच्छा और भगवान्की कृपापर सुदृढ़ विश्वास होनेसे क्या नहीं हो सकता।

श्रीभगवान्के अन्तर्धान होनेके बाद मालतीकी स्थिति कुछ दूसरी ही हो गयी। 'कल प्रातःकाल भगवान् मेरे पुत्र बनकर पधारेंगे' बस, इस उमंगमें वह बावली-सी हो गयी। रातभर प्रतीक्षा करते बीती। कब पूजा समाप्त हो, कब श्यामसुन्दर पधारें। पूजा ज्यों-त्यों पूरी हुई। सदाशिवजी भी पास बैठे थे। इतनेमें ही मालतीकी गोदमें एक अत्यन्त मनोहर श्यामवर्ण दो-ढाई वर्षका बालक आकर बैठ गया। कैसे आया, कहाँसे आया, पता नहीं। बालकको देखते ही सदाशिव और मालती—प्रेमविभोर हो गये। बालक मानो पेटका जाया हुआ है, माँको पूरा-पूरा पहचानता है। इस प्रकारसे स्तनपानकी चेष्टा करने लगा। मालती प्रौढ़ावस्थामें पहुँच गयी थी। पर उसके स्तनोंसे दूधकी धार बह निकली। बालक बड़े चावसे स्तनपान करने लगा। अबतक मालतीको स्मरण था कि भगवान् ही मेरी गोदके पुत्र होकर पधारे हैं, पर भगवान्की लीलाशक्तिकी अनोखी व्यवस्था है, मालती भूल गयी कि ये भगवान् हैं और अपनी कोखसे पैदा हुए बच्चेकी भाँति श्यामसुन्दरको हृदयसे लगाकर उनका मुख चूमने लगी। यही दशा सदाशिवकी थी। कुछ देर यह स्थिति रही। फिर भगवान्ने अपनी माया हटायी। तब दम्पति भगवान्का स्तवन करने लगे। फिर भगवान्की आज्ञासे बालभोग बना। भगवान्ने मुसकराते हुए बालभोग लिया। इतनेमें मध्याह्न हो गया और कल फिर आनेकी बात कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

जब भगवान् आते, तब भगवान्की कृपाशक्तिके कारण मालती-सदाशिवको उनकी भगवत्ताका विस्मरण हो जाता। वे पुत्रकी भाँति लाड़-प्यार करते। जाते समय भगवान् अपनी भगवत्ता जना देते। यों आठ वर्षतक उसी दो-ढाई वर्षकी अवस्थाके भगवान् लगातार प्रतिदिन दोपहरतक उन्हें पुत्र-सुख देते रहे। अन्तमें कार्तिककी एकादशीके दिन भगवान्ने कहा—'बस, आज तुम्हें गोलोक जाना है। मैं तुम्हारे सामने रहूँगा।' मध्याह्नके समय दोनोंके भगवान्के देखते-देखते प्राण प्रयाण कर गये। भगवान् अन्तर्धान हो गये। पड़ोसियोंमें भी कुछ-कुछ चर्चा फैल चुकी थी। सबने आदरपूर्वक उनका अन्त्येष्टि-संस्कार किया। भगवान्की कृपासे दोनों भगवान्के पार्षद बनकर उनके धाममें पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

कृपा कृपामयकी सदा करती है कल्यान।
निज निश्चय अनुसार ही मिलते हैं भगवान॥

कामके पत्र

आर्त-प्रार्थना करो

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण । तुम्हारा पत्र मिला । तुम्हारे दुःखसे मुझे भी बड़ा दुःख है । मैं चाहता हूँ तुम दुःखसे मुक्त हो जाओ, परंतु यह मेरे हाथकी बात नहीं है । तुम्हारे सद्भावके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदर है, परंतु मैं तुम्हें यह विश्वास कभी नहीं दिला सकता कि मैं ऐसा कोई चमत्कार कर दूँगा, जिससे रातोंरात तुम्हारा संकट टल जायगा और तुम अपने मनोरथके अनुसार उच्च स्थितिको प्राप्त हो जाओगे । कोई यदि किसीको ऐसा विश्वास दिलाता है कि 'मैं जादूकी तरह तुम्हारी स्थिति बदल दूँगा' तो वह या तो स्वयं भ्रममें है या ठग है ।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि महात्मा पुरुषोंमें ऐसी क्षमता होती ही नहीं । होती है, पर वैसे पुरुष संसारमें इस समय बहुत थोड़े हैं और यदि कोई हैं तो वे भगवान्के मङ्गलमय विधानको बदलनेका आग्रह नहीं करते । वे भगवान्के मङ्गलमय विधानमें विश्वास करते हैं और वे इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि यहाँका हानि-लाभ वास्तवमें हानि-लाभ है ही नहीं । वे महापुरुष जिस स्तरपर रहते हैं, उस स्तरसे यहाँके समस्त परिवर्तनोंमें उन्हें भगवान्की लीला-माधुरी दिखायी देती है । उसमें न दुःख है, न शोक है, न विनाश है, न हानि है—है केवल विविध विचित्र भङ्गिमाओंमें भगवान्का आत्मप्रकाश, उनका लीलाविलास । ऐसी अवस्थामें वे कौन-सी हानिको लाभमें परिवर्तित करने जायँगे । उनको तो प्रत्येक स्थितिमें भगवान्के मधुर पद-निक्षेपसे झंकृत मधुर नूपुरोंकी ध्वनि सुनायी देती है । अतएव उन महापुरुषोंके द्वारा पारमार्थिक कल्याणके सिवा लौकिक लाभकी आशा नहीं रखनी चाहिये । तुम स्वयं भी ऐसा ही कहा करते हो । परंतु तुम्हारा भी दोष क्या है । बुद्धिमें अभीतक विषय-सुखका विश्वास बना हुआ है और हृदयमें मान-प्रतिष्ठा, नामकी इज्जत, शरीरके आराम और बहुत ऊँचे स्टाइलपर रहनेकी कामना प्रबल है । इसीसे तुम जब अनुचित साधनोंसे भी संकट टालने और सुख प्राप्त करनेकी बात सोचते हो तब 'किसी महात्माके द्वारा काम हो जाय तो बड़ा उत्तम है'—यह सोचना स्वाभाविक ही है; परंतु न तो मैं महात्मा हूँ और न मेरी दृष्टिमें ऐसे कोई अन्य महात्मा ही हैं, जिनका नाम तुम्हें बता सकूँ या जिनसे तुम्हारे लिये मैं अनुरोध कर सकूँ । यह मैंने तुमको स्पष्ट इसीलिये लिखा है कि तुमको इस झूठी आशाके कारण दुखी न होना पड़े ।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि जबतक मनुष्य संसारके प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी आशा रखता है और अनुकूलरूपमें उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहता है, तबतक उसे सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती । संसारमें संसारके पदार्थोंको लेकर आजतक न कोई सुखी हुआ, न हो सकता है । तथापि जबतक यह सत्य मनुष्यकी समझमें नहीं आता, तबतक उसे अनुकूल स्थितिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना ही पड़ता है । परंतु कम-से-कम वह प्रयत्न ऐसा तो होना ही चाहिये, जो नयी दुर्गतिका कारण न बने । वह निर्दोष प्रयत्न है—भगवान्से प्रार्थना करना एकनिष्ठ होकर, जैसे द्रौपदी, गजराज आदिने की थी । मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार भगवान्से प्रार्थना करनेवालेकी दुर्गति होती ही नहीं, उसकी अभीष्ट-सिद्धि भी सहज ही हो सकती है, अथवा भगवान्की कृपासे उसका हृदय ही विषयकामनाकी गंदगीसे शुद्ध हो जा सकता है । अतएव भैया ! तुम कातर हृदयसे विश्वासपूर्वक आर्त-प्रार्थना करो । इससे अच्छी सलाह मैं और दे ही नहीं सकता; क्योंकि मुझे इससे अच्छे किसी साधनकी न तो जानकारी है और न मेरा विश्वास ही है ।

पर यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान् मङ्गलमय हैं, अतएव उनका प्रत्येक विधान भी मङ्गलमय है । यदि वे समझेंगे कि अमुक स्थितिकी प्राप्ति होनेपर हमारा अकल्याण होगा तो हमारे चाहने और प्रार्थना करनेपर वे उस स्थितिकी प्राप्ति नहीं होने देंगे और वास्तवमें उसीमें हमारा कल्याण भी होगा ।

तुम्हारे संकटसे नहीं, परंतु तुम्हारे इस संकटजनित मानस-दुःखको देखकर कई बार मेरे चित्तमें बड़ी उद्विग्नता हो जाती है, पर फिर जब मङ्गलमय भगवान्की सहज सुहृदताका ध्यान आता है, तब यह जानकर संतोष हो जाता है कि वे तुम्हारा अमङ्गल तो होने देंगे ही नहीं । जो कुछ भी विधान करेंगे, वह प्रतिकूल दीखनेपर भी परिणाममें होगा तो वह मङ्गल करनेवाला ही ।

घबराओ मत, प्रभुकी कृपापर विश्वास करो और जहाँतक बने असत्-पथका आश्रय न लेकर विपत्तिनाशके लिये भगवान्से आर्त-प्रार्थना करो । भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे । शेष भगवत्कृपा ।